राजेन्द्र यादव का आलोचना साहित्य
और
सामाजिक चिन्तन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी-एच. डी; उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध)

2000

प्रस्तुतकर्ता :

सुरेश कुमार,

एम ए; एम. फिल.

विभागाध्यक्ष :

प्रो. सुवास कुमार

हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद–500 046.

निर्देशक :

डॉ. रवि रंजन

रीडर, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद–500 046.

CERTIFICATE / DECLARATION

Name of the research scholar : SURESH KUMAR
Department / Centre : HINDI / HUMANITIES
University of Hyderabad.

This is to certify that I, SURESH KUMAR have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. Ordinances of the University.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any University.

03/11/2000

DATE : 03-11-2000 SIGNATURE

(RESEARCH SUPERVISOR) (HEAD OF THE DEPARTMENT / CENTRE)

The Head, Department of Hindi, University of Hyderabad, Hyderabad - 500 046. (A.P.)

(DEAN OF SCHOOL)

3/11/2000

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD-500 046

स म र्प ण

पूजनीय माता-पिता के लिए

जिन्होंने मुझे हमेशा टूटने-बिखरने

से बचाया । और स्नेह एवं ममता

की ऊर्जा से आगे बढ़ना सिखाया ।

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ संख्या
भूमिका	--	1 – 6
प्रथम अध्याय : उपन्यास विषयक सैद्धांतिक मान्यताएँ एवं उपन्यासालोचना	--	7 – 49
द्वितीय अध्याय : "नयी कहानी" आन्दोलन और आलोचक राजेन्द्र यादव	--	50 – 75
तृतीय अध्याय : अन्य साहित्य-विधाएँ तथा राजेन्द्र यादव (आलोचना, कविता, आत्मकथा)	--	76 – 124
चतुर्थ अध्याय : सामाजिक न्याय के लिए आन्दोलन और दलित साहित्य	--	125 – 153
पंचम् अध्याय : "स्त्रीवाद" एवं स्त्रीवादी रचना कर्म	--	154 – 179
षष्टम् अध्याय : पूंजीवाद एवं उपभोक्ता संस्कृति	--	180 – 213
उपसंहार	--	214 – 226
आधार ग्रंथ एवं संदर्भ ग्रंथ सूची	--	227 – 231

भूमिका

राजेन्द्र यादव बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं । उनका लेखन सशक्त, जीवन्त और सामाजिक सरोकारों से गहरे अर्थों में जुड़ा हुआ है। एक आम आदमी की पीड़ा और बेचैनी को उन्होंने समझा, जाना और उसे अपने लेखन में स्थान दिया है । उन्होंने लेखन-क्रम में प्रखर एवं सशक्त भाषा, गहन चिन्तन और अद्भुत कल्पना शक्ति के द्वारा समसामयिक मौलिक प्रश्नों को उठाया है । उनका सारा का सारा संघर्ष विशेष रूप में दलित वर्ग और नारी (जिसे उन्होंने दलित ही समझा है) को सामाजिक, न्याय दिलाने से जुड़ा है । उन्होंने उपन्यास, कहानी, आत्मकथा, आलोचना और कविता आदि पर भी अपनी मौलिक स्थापनाएँ देते हुए नवीन चिन्तन प्रस्तुत किया है । उपर्युक्त मुद्दों के अतिरिक्त अन्य समसामयिक ज्वलन्त मुद्दों

पर भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं । कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्य और समाज का सभी कोणों से अध्ययन किया है और हिन्दी रचनाशीलता को नई दिशा दी है ।

राजेन्द्र यादव उपन्यासकार, कहानीकार, समीक्षक, निबन्धकार, कवि अनुवादक आदि के साथ ही एक उच्च कोटि के संपादक भी रहे हैं । "हंस" पत्रिका के माध्यम से आज भी वे उच्चतर मूल्यों के लिए अपनी शर्तों पर संघर्ष कर रहे हैं । "हंस" के माध्यम से पाठकोंको बेचैन और आन्दोलित करने की उनकी कोशिश बेअसर नहीं है । उन्होंने लेखकीय स्वतन्त्रता से कभी समझौता नहीं किया और साथ ही "हंस" पत्रिका को जिलाये रखने के लिए काफी संघर्ष किया है । प्रसंगात वे स्वयं कहते हैं - "बददिमागी की हालत यह कि लेखकीय स्वतन्त्रता के ज़ोम में अपनों-परायों सबको नाराज ही किया । शायद साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के किसी पूर्व-स्वीकृत दावे को स्वीकारा भी नहीं । ऐसा नहीं है कि इन दस वर्षों में दबाव, मजबूरियाँ, प्रलोभन और धमकियाँ न आई हों, मगर उस धार और डंक के साथ समझौता नहीं किया, जो आज "हंस" को एक अलग पहचान देता है । अगर कहीं कुछ गलत या घपले किए भी हैं तो सिर्फ इसलिए कि "हंस" बचा और बना रहे ।

राजेन्द्र यादव पर प्राय: यह आरोप लगता रहा है कि उनका व्यक्तित्व गैरजिम्मेदाराना, बीमार या घुटा हुआ (Frustrated) है । इस संदर्भ में मन्नू भंडारी लिखती हैं कि - "राजेन्द्र के व्यक्तित्व में अपने अहं की अतिरिक्त चेतना के कारण उभर आई उन गांठों का, जिसने जीवन की सहज, गति को ढँककर रख दिया था। कब किसी बात से वे आहत हो जाएंगे, पता ही नहीं, चलता, हंसी-मज़ाक में मेरी या दूसरों की कहीं गई साधारण-सी बातें भी जब तब उन्हें अपने आत्म-सम्मान पर चोट करती सी लगतीं ।" हो सकता है कि वे निजी जीवन में गैरजिम्मेदार या " Frustrated " रहे हों, परन्तु उनका लेखन एक जिम्मेदार लेखन की मिसाल है । हाँ इतना जरूर है कि कहीं-कहीं वे

अपने लेखन में पूर्वाग्रहों से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं । स्वयं उनमें सामंती संस्कारों से ओत-प्रोत पौरुषीय अहम् है । परन्तु अपने लेखन में उन्होंने सामंती संस्कारों का खुलकर विरोध किया है। स्पष्ट ही लेखक का मूल्यांकन उसके लेखन से होता है, निजी जीवन से नहीं ।

कथा-समीक्षा एवं अन्य सामाजिक विषयों पर आलोचना की दिशा और दशा को समझने के लिए राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक साहित्य से जुड़ना आज के पाठक के लिए अनिवार्य है । उनकी बेबाक टिप्पणियों ने जहाँ कथा-समीक्षा को धार दी, वहीं उपेक्षित एवं शोषितों के प्रति यथार्थ से जुड़ी सच्ची संवेदना ने स्वतन्त्रता के बाद की जिजीविषा को वाणी दी है। उन्होंने पेशेवर आलोचना का खण्डन करते हुए आलोचना को एक ठोस जमीन प्रदान किया है ।

राजेन्द्रयादव कोरे प्रगतिशील नहीं, परिवेश से सम्पृक्त संवेदनशील और जागरूक प्रगतिशील रचनाकार हैं । दरअसल उनकी प्रतिबद्धता किसी "वाद"में नहीं, "आम आदमी"के प्रति है । अत: जहाँ- कहीं भी उन्होंने टूटते-गिरते, उठते फिर गिरते, "आदमी" को देखा है उसे बढ़कर संभाल लेना चाहा है, वैसे भी प्रगति या प्रगतिशील का केन्द्रीय बिन्दु तो मनुष्य ही होता है । यह तयशुदा है । वे कोरे आशावादी नहीं, वरन् परिस्थितियों से जूझने केलिए बुनियादी व्यवस्था के विरूद्ध बगावती मुद्रा अख्तियार करनेवाले रचनाकार हैं । इसीलिए उनके लेखन में विशेष प्रकार की धार है ।

कुल मिलाकर राजेन्द्र यादव के लेखन से गुजरते हुए पाठक के भीतर एक मरोड़ पैदा होती है, पैर के नीचे भूस्खलन का अहसास, जो पढ़ना स्थगित करने पर भी आईना लेकर साथ-साथ चलता है । वे जो प्रश्न उठाते हैं, वह कतई- अप्रांसगिक नहीं होते, बल्कि बेहद तात्कालिक, ज्वलन्त एवं सामाजिक सरोकारों से जुड़े होते हैं,। इस क्रम में मुझे विश्व प्रसिद्ध नाटककार ब्रेष्ट की एक उक्ति याद आ रही है - "जब सच को चारों ओर से दबाया जा रहा हो

तो उसे कहने का साहस एक रचनाकार में होना चाहिए ।" निस्संदेह यह साहस राजेन्द्र यादव के लेखन में साफ दिखाई पड़ता है ।

जाहिर है कि प्रस्तुत शोध राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक – लेखन को समझने की एक छोटी-सी कोशिश भर है। इस शोध प्रबंध को अध्ययन एवं विवेचन की सुविधा के लिए भूमिका एवं उपसंहार के अतिरिक्त छः अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में राजेन्द्र यादव की उपन्यासालोचन दृष्टि का विवेचन तथा विश्लेषण करते हुए उनका मूल्यांकन करने की कोशिश की गयी है ।

द्वितीय अध्याय में "नयी कहानी" आन्दोलन पर राजेन्द्र यादव द्वारा दी गई स्थापनाओं पर चर्चा की गई है ।

तृतीय अध्याय में अन्य साहित्यिक विधाओं पर राजेन्द्र यादव के विचारों पर प्रकाश डाला गया है ।

चतुर्थ अध्याय में "सामाजिक न्याय के लिए आन्दोलन और दलित साहित्य" पर राजेन्द्र यादव के मंतव्यों को विवेचन का विषय बनाया गया है ।

पंचम अध्याय में "स्त्रीवाद और स्त्रीवादी रचना कर्म" पर राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक लेखन का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। स्त्रियाँ किसी भी वर्ग की हों, वे दलित ही होती हैं, ऐसा राजेन्द्र जी का विश्वास है।

छठे अध्याय में "पूँजीवाद एवं उपभोक्ता संस्कृति" से समाज में, सभ्यता एवं संस्कृति आदि के क्षेत्र में आये बदलाव पर दृष्टिपात किया गया है ।

अंत में उपसंहार के अन्तर्गत शोध-क्रम में प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा संदर्भ ग्रन्थों की सूची संलग्न की गयी है।

शोध के दौरान राजेन्द्र यादव की आलोचना-दृष्टि की पहचान और उनके द्वारा उठाये मुद्दों को मूल्यांकित करने की कोशिश की गयी है । यहाँ हम यह दावा नहीं करते कि इस शोध में उनकी आलोचना-दृष्टि को पूरी तरह समझ लिया गया है। वस्तुत: प्रस्तुत शोध प्रबंध इस दिशा में एक पहलकदमी है ।

यह मेरा परम सौभाग्य ही है कि मुझे डॉ॰ रवि रंजन जी जैसे विषय के ज्ञाता एवं प्रेरणा देने वाले निर्देशक की देख-रेख में शोध करने का सुअवसर मिला है । उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर शोध के शीर्षक से लेकर शोध को सम्पूर्ण करने में मेरा पंथप्रदर्शन किया है। उनके सहयोग, स्नेहमयी फटकार एवं प्रोत्साहन के लिए मैं सदैव उनका हृदय से आभारी रहूँगा ।

मैं विभागाध्यक्ष प्रो॰ सुवास कुमार जी, मानविकि संकायाध्यक्ष प्रो॰ वै॰ वेंकटरमण राव, प्रो॰ शशि मुदिराज एवं विभाग के अन्य समस्त प्राध्यापकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके आत्मीय व्यवहार से मुझे सदा आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिलता रहा हैं ।

मेरे इस शोध कार्य को सफलता पूर्वक साकार रूप देने के लिए मैं पूजनीय माताजी एवं पिताजी के प्यार, योगदान, एवं प्रेरणा के लिए केवल आभार व्यक्त करके मुक्त नहीं हो सकता । इसके लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ ।

इस कार्य को पूरा करने में परम मित्र उर्मिला पुन की प्रेममयी नफरत का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं । अगर वह लगातार मेरी भावनाओं पर तीव्र प्रहार न करतीं तो शायद मैं इस कार्य को पूरा नहीं कर पाता । साथ ही अपने भाईयों दिलीप, रामबहादुर थापा, पन्नालाल, दिलीप पटेल, दीनमोहम्मद

विनोद एवं अन्य सभी साथियों का आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग तथा प्रोत्साहन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मुझे मिलता रहा है । अंत में विवेक वर्धिनी महाविद्यालय, हिन्दी विभाग के सभी प्राध्यापकों का मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने सदा मेरे प्रति आत्मीय व्यवहार रखते हुए समय - समय पर शोध सम्बन्धी सामग्री जुटाने में मेरा सहयोग किया है ।

-सुरेश कुमार
एम.ए., एम.फिल.,

प्रथम अध्याय

उपन्यास विषयक सैद्धांतिक मान्यताएँ एवं उपन्यासालोचन

प्रथम अध्याय

उपन्यास विषयक सैद्धान्तिक मान्यताएँ एवं उपन्यासालोचन

आज उपन्यास साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। तेरहवीं शताब्दी के पूर्व यूरोप में कथा-साहित्य प्रायः पद्य में था। तेरहवीं शताब्दी में गद्य-कथा का विकास सर्वप्रथम फ्रेंच भाषा में हुआ, फिर चौदहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में मैलोरी ने आर्थर के सम्बन्ध में गद्य में कथा "Morte de Arthur" लिखी। जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है, यह विधा फ्रांस में "Le Sage" तथा इंग्लैण्ड में रिचर्डसन की रचनाओं से आरम्भ हुई। अंग्रेजी में लिखे गये फील्डिंग तथा रिचर्डसन के उपन्यासों को "Picaresque novel" कहते हैं।"[1] जिस प्रकार उपन्यास की उत्पत्ति को लेकर कई अटकलें लगाई

1. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर - पृ.सं. 3

जाती हैं उसी प्रकार उपन्यास की परिभाषा को लेकर भी विद्वान आलोचकों में मतभेद है । जैसे साहित्य अथवा कविता एवं कहानी को परिभाषित करने के अनेक प्रयत्न देश-विदेश में किये गए है, किन्तु कोई भी एक परिभाषा सर्वमान्य नहीं हो पाई, वैसे ही "उपन्यास" की भी अनेक परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने दी हैं किन्तु कोई भी एक परिभाषा उपन्यास के सारे पहलुओं को समेट नहीं सकी है । प्रसंगवश उपन्यास के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की धारणाओं पर दृष्टिपात करना लाजिमी है ।

राल्फ फाक्स ने उपन्यास के सम्बन्ध में कहा है कि मानव-जीवन की विविध सर्वांगीण अभिव्यक्ति उपन्यासों में ही सम्भव हैं । उपन्यास केवल गद्य में लिखी हुई कथा ही नहीं है । उन्होंने उसे मानव जीवन का गद्य माना है ।[1] वाल्टर एलन का कहना है कि महान उपन्यासों में महान चरित्रों का रहना अनिवार्य है । बिना महान चरित्रों के कोई महान उपन्यास नहीं हो सकता ।[2] जार्ज मूर के विचार से "उपन्यास समकालीन इतिहास के सिवाय और कुछ नहीं है । जिस युग में हम जी रहे हैं, वह उसके सामाजिक परिवेश का बिल्कुल पूर्ण और सही सही पूर्व निर्माण है ।[3] उपन्यासकार प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है - मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ ।"[4] कुछ आलोचक उपन्यास को जीवन का संघर्षमय चित्र मानते हैं और कुछ ने उपन्यास को गद्य युग का महाकाव्य कहा है ।

- -

1. दि नावेल एण्ड दी पीपुल - पृ.सं. 25
2. दि इंग्लिश नावेल - पृ.सं. 15
3. एड्वर्ड नेनेबीट, केवलकेड ऑफ इंग्लिश नावेल - पृ.सं. 20
4. प्रेमचन्द कुछ विचार - पृ.सं. 38

उपन्यास की जितनी परिभाषाएँ उद्धृत की जाए, कम हैं । स्पष्ट ही किसी एक परिभाषा में उपन्यास जैसी समृद्ध विधा को बांधना कठिन ही नहीं असंभव हैं । उपन्यास जीवन की पुनर्रचना और व्याख्या की आकांक्षा से जुड़ी साहित्य विधा है, युग के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों पर टिप्पणी की कल्पना मुश्किल है । लेकिन इससे पहले उससे बहुत सामान्य सी अपेक्षा यह की जाती है कि जिस जीवन को वह अपनी रचना वस्तु के रूप में चुनता है उसे बहुत विश्वसनीय और अंतरंग ढंग से हमारे समक्ष उपस्थित कर सके । एक रचना के रूप में उपन्यास में सर्जित संसार की विश्वसनीयता लेखक से जीवन की गहरी समझ और निष्ठापूर्ण समर्पण की माँग करती है । इस अतिसामान्य सी अपेक्षा के अभाव में उपन्यास से किसी सुगंभीर तकाजे को पूरा करने की तो बात ही अलग है, उसे शुरू से आखिर तक पढ़ पाना भी मुश्किल होता है । किसी भी दूसरी साहित्य-विधा की तरह उपन्यास में भी विचारधारा का महत्व निर्विवाद है लेकिन विचारधारा रचना का स्थानापन्न नहीं हो सकती । सही ढंग से उसका इस्तेमाल किए जाने पर वह रचना को जीवंत और सार्थक अवश्य बना सकती है । यह कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव जीवन का विराट 'कैनवास' है तथा इसमें जीवन की भीतरी और बाहरी घटनाओं का वैचारिक अन्तर्लोक अपने समस्त सौन्दर्यानुभवों से गुजरता है । आधुनिक उपन्यास अपनी निरन्तरता में सदैव समकालीन है और यह आधुनिक मनुष्य की अपनी ही आत्मकथा है । अतः उपन्यास के अस्तित्व का मूल आधार जीवन का प्रस्तुतीकरण है । इस प्रकार वह मानव जीवन की अभिव्यक्ति एवं व्याख्या है । "समाज सापेक्ष होने के कारण उपन्यास का समाजशास्त्रीय महत्व है । उपन्यास के काव्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक विवेचन के साथ-साथ आज आलोचकों का दृष्टिकोण उसके समाजशास्त्रीय अध्ययन की ओर उन्मुख है ।"[1]

---

1. डॉ. विश्वम्भर दयाल गुप्त - उपन्यास का समाजशास्त्र - पृ.सं. 37

उपन्यासकार,कहानीकार, कवि, चाहे आलोचक सभी पहले व्यक्ति है और व्यक्ति समाज में रहता है और सामाजिक प्राणी है । इसीलिए समाज से कटकर सोच ही नहीं सकता । "हम-प्रत्येक उपन्यास में समाजशास्त्र की सामग्री और समाजशास्त्र के प्रत्येक परिच्छेद में उपन्यास का अंकुर खोज निकाल सकते हैं ।

उपन्यास मानव-सभ्यता की महान लोक कला है, मानव के जीवन का गद्य हैं, वह पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती हैं । परिस्थितियों से संघर्षरत मानव को और उसकी उपलब्धियों को जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है, उतनी पूर्णता और सफलता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं । इसीलिए जार्ज मूर ने कहा है कि - "उपन्यास लेखक के जीवन का आख्यान नहीं, उस समूचे जीवन का परिप्रेक्ष्य है जिसे वह देखता, समझता, भोगता और रचता हैं, यह जीवन चाहे किसी एक व्यक्ति का हो अथवा पूरे समाज का या उसके किसी विशेष अंश का, होगा हमेशा बृहत्तर, गंभीर, अन्वितिपूर्ण, व्यापक । कथा साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मानव अनुभव में असामान्य के प्रति रुचि को सन्तुष्ट कर आनंद प्रदान करना है । अत: कथा लेखक की समस्या है - असामान्य और सामान्य के बीच सन्तुलन स्थापित करना जिससे एक ओर वह पाठकों का रंजन कर सके और दूसरी ओर यथार्थ की प्रतीति करा सके, क्योंकि प्रभावित करने के लिए पहले विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है ।"[1] उपन्यास घटनाओं की शृंखला मात्र नहीं, वह एक सम्पूर्ण चित्र है । उपन्यासकार जीवन का द्रष्टा मात्र नहीं होता, वह सृष्टा भी होता है और अपनी कृति में अपनी जीवन दृष्टि के प्रति ईमानदार हो जगत् का अंकन करता है । उसका कार्य सुधारक का भी नहीं होता । वह समस्या को प्रस्तुत करता है, उसका समाधान नहीं देता ।

- -

1. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर - पृ.सं. ।

आज का आलोचक उपन्यास को सुनिश्चित अर्थ और सीमाओं वाला साहित्यिक काव्य रूप नहीं मानता, अपितु एक अस्पष्ट शब्द (term) कहता है, जिसमें गद्य का माध्यम अपनाया जाय, कुछ कार्य हो, एक सीमित आकार और संगठन हो । यदि ये सब बाते उसमें है, तो फिर वह त्रासद, व्यंग्यात्मक कथाख्यानात्मक, काव्यात्मक या महाकाव्यात्मक किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत हो सकता है ।[1]

महाकाव्यों से ही उपन्यास की उत्पत्ति हुई है, आधुनिक समय में महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया है । उपन्यास में महाकाव्य के लक्षण पाए जाते हैं । साहित्य जगत में "महाकाव्यात्मक उपन्यास" पद का प्रचलन टालस्टाय के "वार एण्ड पीस" की रचना से माना जाता है । हिन्दी में भी गोदान, झूठा सच आदि को महाकाव्यात्मक उपन्यासों का नाम दिया गया, जबकी उपन्यासों में महाकाव्य के लक्षण पाये जाते हैं । इस पर विद्वान एकमत नहीं है । स्पष्ट ही महाकाव्यात्मक उपन्यास का विषय महान होता है, अतः वह राष्ट्र की महत्वपूर्ण घटनाओं पर लिखा जाता है, जैसे टालस्टाय का "वार एण्ड पीस" नेपोलियन युद्धों से सम्बद्ध है, तो यशपाल का "झूठा सच" देश के विभाजन और विभाजन के बाद के कठिन समय और समस्याओं का वृत्त प्रस्तुत करता है । साथ ही वह राष्ट्र की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है । चिंतक एवं दार्शनिक तेन ने उपन्यास के सम्बन्ध में "एपिक ऑफ द मिड्ल क्लास" की बात कहीहै इसी तर्ज में दूसरे प्रसिद्ध चिन्तक लुकाच ने "बुर्जुआ एपिक" की बात रखी है । इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा समाजशास्त्र की पुस्तक में देखी जा सकती है ।

पिछले कई वर्षों से उपन्यास पर विद्वानों, आलोचकों द्वारा चिंतन मनन किया जा रहा है । उनके नामों की सूची देना अनिवार्य नहीं हैं ।

---

1. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर - पृ.सं. 2

सभी ने अपने अपने तरीके और अपनी समझ के मुताबिक उपन्यासों पर अपनी स्थापनाएँ दी है । राजेन्द्र यादव ने भी अपने मौलिक चिन्तन से इस दिशा में एक नया अध्याय जोड़ा है । विचार के क्षेत्र में तो रंग रक्त के आधार पर जाति-पाँति नहीं बनती क्योंकि कभी कोई भी विचार अपने आप में निरपेक्ष नहीं होता, वह अनेक विचारों का संश्लिष्ट रूप होता है । इसी आधार पर राजेन्द्र यादव का मानना है कि उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक सामाजिक नाम देना गलत है । उपन्यासों को सीमित करना उनको खलता है, क्योंकि यह कैसे संभव है कि राजनीतिक उपन्यास में समाज न हो या सामाजिक उपन्यास को ऐतिहासिक कहने के पक्ष में भी नहीं है । ऐतिहासिक कहे जाने वाले उपन्यास में क्या तात्कालिक समाज, सामाजिक चित्रण या सामाजिक समस्याएँ नहीं होती ? फिर भी इस प्रकार का विभाजन हो रहा है और इसका कारण वे राजनैतिक या औपनिवेशिक दासता में देखते है । उनका मानना है कि उपन्यास के दो ही विभाजन हो सकते हैं : "समाज को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और पृष्ठभूमि में देखनेवाली रचनाएँ और व्यक्ति को यथार्थ-सामाजिक या समाजवादी दृष्टिकोण से चित्रित करने वाली रचनाएँ ।"[1] उनकी राय है कि इस दूसरी राह पर चलने के खतरे अनेक हैं परन्तु देर-सबेर रास्ता मिल ही जाता है । नहीं तो फिर अन्त "टेढ़े - मेढ़े रास्ते" हैं ही । इस संदर्भ में राल्फ फाक्स ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि यह सच है कि बहुत से दार्शनिक उपन्यास लिखने में बुरी तरह असफल हुए हैं, लेकिन यह भी सच है कि आज तक कभी कोई लेखक अपने चरित्रों को सहज-स्वाभाविक बनाने केलिए आवश्यक उस अन्तर्दृष्टि के बिना कोई महत्वपूर्ण कृति नहीं दे पाया, जो जीवन के प्रति एक दार्शनिक दृष्टिकोण की ही उपज होती है । राजेन्द्र यादव ने माना है कि इस लगन और दृष्टिकोण की आवश्यकता को प्रेमचंद के विकास में देखा जा सकता है।

---

1. उपन्यास स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 199

साहित्य सपना नहीं देता, सपना देख सकने की क्षमता, आकांक्षा और सम्भावना को जिन्दा रखता है । राजेन्द्र यादव की धारणा है कि पिछले अनेक दशकों से साहित्य अपनी यह जिम्मेदारी सिर्फ कथा साहित्य के माध्यम से ही निभा रहा है । सामन्तवादी काव्य संस्कारों से ग्रस्त आचार्यों और विशेषज्ञों के बावजूद कहानी-उपन्यास ही साहित्य की केन्द्रीय-विधाएँ रही हैं । हो सकता है कि अपनी सामाजिक हिस्सेदारी के कारण आगे जाकर नाटक अधिक महत्वपूर्ण हो जाये । अनेक देशों और भाषाओं में है भी । लेकिन अपने यहाँ यह सामाजिक स्वीकृति सिर्फ उपन्यास-कहानी को है । यह और विधाओं की अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है ।

राजेन्द्र यादव का मानना है कि उपन्यास प्रकृतित: हिस्सेदारी की क्रिया है, सोशल-ऐक्शन है । उनमें हम किन्हीं लोगों की कहानी कहते हैं, एक विशेष समय में आपसी सम्बन्धों और व्यक्तित्वों को समझना समझाना चाहते हैं, उन्हें बनते-बिगड़ते -विकसित होना दिखाते हैं । चुनाव हमारा होता है । चुनाव के कोण और लेखन प्रक्रिया के निहायत व्यक्ति सापेक्ष होने के बावजूद हमें लोगों की, विशेष समय और सन्दर्भ में रहने वालों की कहानी कहनी होती है - भले ही हम उनके नाम और रूप को इस्तेमाल करते हुए अपनी ही बात कह रहे हों । हमारा मैं भी कागज़ पर आते ही हमसे अलग या दूसरा पात्र हो जाता है । इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि लिखे हुए उपन्यास में भी लोग अपने-आपको तलाश करेंगे- किसी न किसी स्थिति या व्यक्ति या विचार से एकात्म महसूस करेंगे - और कुछ नहीं तो शब्दहीन संवेदन उन्हें अपना जैसा लगेगा । साधारणीकरण की तकनीकी उलझनों में न भी पड़े तो यह "अपने-जैसा" लगना ही किसी दूसरे या दूसरों के साथ समान स्थिति और नियति का सूचक होता ही है । इसीलिए शायद गोल्डमैन ने कहा था, "उपन्यास के रूप में समाज को व्यक्तिगत स्तर पर अनुभव करते हैं ।" (नावेल इज द प्राइवेट एक्स-पीरियेंस आफ सोसाइटी) । यही कारण है कि समाजशास्त्री बार-बार उपन्यास की ओर आकृष्ट हुए है ।

राजेन्द्र यादव की धारणा है कि हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में समाज के स्वरूप को समझना होगा । वह कौन सा समाज है जिसे उपन्यासकार ने बार-बार फ़ोकस किया है, प्रेरणा और लक्ष्य के रूप में जो उसका केन्द्र रहा है । यानी हिन्दी उपन्यास मुख्य रूप से किस समाज की उपज है, किस समाज के लिए लिखा जाता रहा है - या किस समाज के चरित्र उसमें अक्सर आते रहे हैं । साधरणतः उसी समाज के साथ उसकी स्थिति जुड़ी है । प्रायः सभी देशी-विदेशी आलोचकों का मानना है कि उपन्यास मध्यवर्ग की उपज है । उपन्यास में मध्यवर्ग के पात्र लिए जाते हैं और उन्हीं के लिए उपन्यास का उदय हुआ है ।

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि हिन्दी ही क्यों, उपन्यास-मात्र का जन्म मध्यवर्ग और उसकी चेतना के उदय के साथ माना जाता है । मध्यवर्ग की सामाजिक और राजनैतिक चेतना को ही मोटे रूप में पुनर्जागरण का काल भी कहा जाता रहा है । सीधे अपने वर्ग पर आने से पहले उपन्यास राजा-रानियों के गौरव और पराभव की कहानियाँ सुनाता दिखायी देता है । हो सकता है कि उस समय के अचेतन में रहा हो कि ये ही राजा-सामन्त सारी स्थिति को ठीक-ठीक करके देश-समाज का उद्धार कर देंगे । लेकिन शताब्दी के अन्त तक हम इस वर्ग को औपन्यासिक रूप में विघटित और हास्यास्पद होते हुए पाते हैं - यानी "फसानाए - आजाद" तक । "डॉन क्विक्ज़ोट" और "आजाद-कथा" दोनों अपने समय की इसी सच्चाई को कहते हैं ।

हिन्दी में उपन्यास और भारतीय समाज में मध्यवर्ग, या अपना पुनर्मूल्यांकन करती मध्यवर्गीय चेतना का साथ-साथ उदय मात्र संयोग नहीं माना जा सकता । यह भी अचानक नहीं है कि भारतीय साहित्य में उपन्यास पुन-र्जागरण से जुड़ा है, वह अतीत - गरिमा, प्राचीन मूल्यों की महानता, सामाजिक कुरीतियों या गौरवपूर्ण इतिहास के बहाने विदेशी शासन और आक्रमण के प्रतिरोध को ही अपना कथ्य बनाकर चला है । ... प्रायः अभी तक के सभी लेखक, उनके

पात्र और पाठक-यानी उपन्यास की तीन कड़ियाँ मूलतः मध्यवर्गीय ही रही है । निम्न या दलित और सर्वहारा वर्ग तो अपनी जिन्दगी जीने, ऊपरी वर्गों के दबावों और अस्तित्व के संघर्षों में ही इतना उलझा रहा है कि न तो उसके पास शिक्षा है न लिखने पढ़ने का मानसिक अवकाश और सुविधाएँ । अभी तक तो उन लोगों की कहानियाँ भी मार्क्स-गाँधी-प्रेरित मध्यवर्गीय चेतना से ही आती रही हैं । सामाजिक आर्थिक दबावों, मशीनीकरण की प्रक्रिया और अपने तथा ऊपरवालों के प्रति घुटते-फूटते विक्षोभ ने उनके मनोविज्ञान में कहा - कितनी पेचीदागियाँ पैदा कर दी हैं - इसका चित्रण तो वह वर्ग खुद आगे जाकर कर सकेगा ।[1]

राजेन्द्र यादव की उपन्यास विषयक उपर्युक्त स्थापना से नितान्त भिन्न अवधारण डॉ॰नामवर सिंह की है, जिनका कहना है कि पश्चिम में उपन्यास का उदय भले ही एक बुर्ज्वा रूप के रूप में हुआ हो किन्तु भारतीय उपन्यास का विकास मुख्यतः औपनिवेशिक दासता में छटपटाते हुए किसान की जीवन गाथा से हुआ है ।

भारतीय उपन्यास मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में नहीं, बल्कि ग्रामीण समाज के आख्यान {नेरेटिव} के रूप में उदित और विकसित हुआ । भारतीय उपन्यास का नायक मूल्यवंचित समाज में मूल्यों की खोज का असफल प्रयास करने वाला समस्यामूलक नायक नहीं, बल्कि अर्ध-सामन्ती, अर्ध पूँजीवादी औपनिवेशिक समाज में किसी तरह जीवित रहने भर के लिए संघर्ष करने वाला त्रासदीय नायक है । जिसे अनायक भी कह सकते हैं । यदि समस्त भारतीय भाषाओं के पिछले सौ वर्षों के साहित्य पर दृष्टिपात करे तो उपन्यास की मुख्य जीवंत धारा सर्वत्र वही दिखायी पड़ेगी जिसका सम्बन्ध मूलतः गाँवों से है भारत की अपनी स्वकीय उपन्यास परम्परा मूलतः ग्रामीण ही है ।

---

1. उपन्यास स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 182

स्वाभवतः इस ठेठ भारतीय उपन्यास का उदय पहले पहल भारत के उस भू-भाग में सम्भव न था जहाँ पश्चिम के सर्वप्रथम सम्पर्क के कारण मध्यवर्ग विकसित हो चुका हो । उसके उदय के लिए अपेक्षाकृत पिछडे हुए इलाके ज्यादा उपयुक्त हो सकते हैं - ऐसे इलाके जहाँ औपनिवेशिक लूट ने परम्परा को कम से कम नष्ट किया हो । आकस्मिक नहीं है कि भारतीय किसान के शोषण को लेकर लिखा हुआ पहला सशक्त भारतीय उपन्यास उड़िया में लिखा गया । फकीर मोहन सेनापति का छमाण आठ गुंठ {छह बीघा जमीन} जो 1897 में प्रकाशित हो चुका था । फकीर मोहन का भगिया सम्भवतः भारतीय उपन्यास का पहला जीवन्त किसान चरित्र है - एकदम एक नया कथा नायक । उड़िया आलोचकों के अनुसार यह उपन्यास ठेठ जनभाषा पर आधारित उड़िया गद्य की सर्जनात्मक क्षमता का पहला दस्तावेज है । उल्लेखनीय है कि भारत के एक नितान्त पिछडे समझे जाने वाले इलाके भारतीय उपन्यास का किसान नायक उसी समय आ चुका था जब भारत के राष्ट्रीय क्षितिज पर जनजागरण के अग्रदूत गाँधी जी का दूर-दूर तक कहीं पता भी नहीं था । यही बीस वर्ष बाद भारतीय उपन्यास की यह लोक-धर्मी परम्परा हिन्दी के पिछडे इलाके में प्रेमचंद के हाथों और अधिक व्यापक फलक पर विकसित हुई तो अकारण नहीं । इसके पीछे 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का चेतना का हाथ है । स्वष्टतः भारतीय उपन्यास के उदय का अविच्छिन्न सम्बन्ध भारतीय अस्मिता के पुनराविष्कार से है और हमारे इतिहास की कोख ही भारतीय की जननी है ।[1]

सच तो यह है कि इस मुद्दे पर सर्वप्रथम जार्ज लूकाच ने अपनी पुस्तक "उपन्यास का सिद्धान्त" में गम्भीरता पूर्वक विचार किया है । लूकाच की धारणा है कि महाकाव्य और उपन्यास उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक साहित्य के दो

- -

1. पूर्वग्रह - 46-47 - पृ.सं. 12

रूप हैं । यह एक दूसरे से न केवल इस कारण भिन्न है कि इनके लेखकों के मूल अभिप्राय भिन्न होते हैं । बल्कि इसलिए की जिन ऐतिहासिक दार्शनिक वास्तविकताओं से लेखकों का सामना होता हैं, वे भिन्न होती हैं । उन्होंने आगे लिखा है कि महाकाव्य का स्वभाव बच्चे जैसा ही सरल होता है जबकि उपन्यास इसके ठीक विपरीत परिपक्व एवं सशक्त होता है ।[1] कुल मिलाकर हम कहा सकते है कि चूंकि "भौतिक उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन होने से भौतिक उत्पादन का चरित्र भी बदल जाता है ।"[2] इसलिए आधुनिक युग में परिवर्तित समाजार्थी आधार ने साहित्य रूपों को भी प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास आज महाकाव्य का स्थानापन्न मान लिया गया है ।

राजेन्द्र यादव पहले रचनाकार तत् पश्चात् आलोचक हैं । इसलिए उनकी आलोचना में रचनात्मकता है । उन्होंने समकालीन सामाजिक मुद्दों के साथ साथ महत्वपूर्ण उपन्यासों में की भी आलोचना की हैं । उन्होंने उन उपन्यासों पर अपने विचार व्यक्त किए जो हिन्दीके के श्रेष्ठतम विचारणीय उपन्यास हैं । इन उपन्यासों का पुन:मूल्यांकन भी आवश्यक है । इस क्रम में उन्होंने उपन्यासों को नये संदर्भ में समझने की दृष्टि दी है । उन्होंने अपने विचारों को कृति पर थोपने की कोशिश कदापि नहीं की । उन्होंने उपन्यासों के उन पक्षों को छुआ है जिन्हें केवल एक रचनाकार-आलोचक ही छू सकता है । तात्पर्य यह है कि उपन्यासों की आलोचना में उन्होंने उन तथ्यों एवं पक्षों को खोजा है, जो वे स्वयं भी लिखना चाहते थे । उन्होंने उपन्यासों में आम आदमी की पीड़ा, मध्यवर्गीय समाज की झुंझलाहट, वर्णव्यवस्था, नारीवाद आदि पक्षों को खोजा है । उनकी सजग आलोचना में नारीवादी चिंतन

- -

1. उपन्यास का सिद्धांत - लूकाच - पृ.सं. 7।
2. कम्यूनिष्ट पार्टी का घोषणा पत्र - पृ.सं. 60

-के बीज़ दृष्टिगोचर होते है । यह उनका प्रिय विषय भी है । इससे उनकी सूक्ष्म दृष्टि और अध्ययनशीलता का प्रमाण मिलता है । उनके विचारों की अकाट्य तार्किकता, सूक्ष्मता, गहराई, गम्भीरता, सच्चाई, ईमानदारी {लेखन एवं समाज के प्रति} प्रतिबद्धता सराहनीय है । उन्होंने लेखन और समाज के लिए अपनी प्रतिबद्धता को चट्टान की तरह स्थिर रखा है ।

राजेन्द्र यादव की पुस्तक "अठारह उपन्यास" उनके उपन्यास विषयक आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन है । लेखक ने इसमें इतिहास - दृष्टि को अधिक महत्व दिया है । पश्चिम में तेजी से बदलते हुए समाज में साहित्य भी तेजी से बदलता जारहा है । उसकी तेज रफ्तार को देखते हुए उसके मूल्यांकन के मुहावरों और चीर-फाड़ के औजारों में भी परिवर्तन आया है - मुख्यत: उपन्यासों के क्षेत्र में । हिन्दी में इस दिशा में लोगों ने हाल ही में ध्यान देना शुरू किया है । राजेन्द्र यादव ने अठारह उपन्यासों की समीक्षा के माध्यम से औजारों की तलाश का दावा किया है । उनकी मान्यता है कि अपने उपन्यासों के माध्यम से तलाशे हुए औजार अपने देश के कारखानों में उत्पादित औजारों की तरह होंगे । पश्चिमी औजारों से प्रेरणा लेना तो ठीक है, किंतु उनका शुद्ध आयात वैसा ही खतरनाक है जैसा हथियारों का, अत: अपने उपन्यासों के माध्यम से औजारों की तलाश अधिक सार्थक एवं प्रासंगिक है। उन्होंने इस पुस्तक को आदर्श या सम्पूर्ण नहीं माना है । भूमिका के अन्त में वे लिखते है कि "हो सकता है, और अधिक समर्थ, दृष्टि-सम्पन्न समीक्षकों के लिए यह पुस्तक अधिक सम्पूर्ण लिखने की प्रेरणा बन सके । यहाँ अधिक सम्पूर्ण पद ध्यान देने योग्य है ।

"अठारह उपन्यास"में विश्लेषण के लिए जिन उपन्यासों को चुना गया है वे सब लोकप्रिय एवं चर्चित उपन्यास है । इन उपन्यासों पर अनेक आलोचकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । कुछ उपन्यासों को लेकर गम्भीर वाद-विवाद

भी होतारहा है । यहाँ उनके द्वारा की गई औपन्यासिक आलोचनाओं में से कुछ पर विचार करना प्रासंगिक होगा ।

इस पुस्तक की भूमिका में लिखा गया है कि कुछ मनचाही कृतियों पर उन्होंने लिखा है, कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ छूट गयी हैं और कुछ पर लिखने में उन्होंने अपने को अक्षम पाया । त्याग-पत्र, गोदान, चित्रलेखा, निर्वासित सन्यासी, शेखर, बाणभट्ट की आत्मकथा, झूठा-सच, नदी के द्वीप, अजय की डायरी, मैला-आंचल, कब तक पुकारूँ?, मुर्दाघर आपका बंटी, जिन्दगी नामा, रागदरबारी इत्यादि ऐसी कृतियाँ हैं, जिनकी अनुपस्थिति खुद लेखक को भी खटकती है । महत्वपूर्ण एवं चर्चित उपन्यासों की सूची बनाई जाए तो अन्त नहीं होगा । सभी उपन्यासों पर एक व्यक्ति द्वारा चर्चा करने से उपन्यासों के अस्तित्व के साथ न्याय नहीं होगा, ऐसे तो हिन्दी उपन्यासों का इतिहास हो जाएगा । हिन्दी उपन्यासों का इतिहास लिखना उनका प्रयोजन नहीं रहा। सीमित उपन्यासों को चुनने के कारण ही वे अपनी नजर से गम्भीर एवं न्यायोचित टिप्पणी कर पाये हैं । उन्होंने अठारह उपन्यासों की भूमिका में विश्वविद्यालयी समीक्षा को कमजोर एवं व्यर्थ बताया है । परन्तु सच्चाई यह है कि कोई भी रचनाकार जब समीक्षक का चोला पहनता है तो पहला वार विश्वविद्यालयी समीक्षा पर करता है । उसकी शैली ऐसी होती है कि वे तो फालतू हैं, असली सच्चे समीक्षक तो हम हैं । यह प्रवृत्ति एक हद तक राजेन्द्र यादव में भी है ।

राजेन्द्र यादव ने आलोचना के दरम्यान उपन्यासों को श्रेणीबद्ध करने के क्रम में शीर्ष स्थान पर देवकीनंदन खत्री के उपन्यास "चन्द्रकांता संतति" को रखा है । इस उपन्यास पर अन्य आलोचकों ने भी गहराई से अपने विचार व्यक्त किए हैं । स्पष्ट ही नीरजा गुलेरी द्वारा दूरदर्शन पर इसका फिल्मांकन

करने वाले लोगों में इसकी चर्चा आज भी होती रहती है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि नीरजा गुलेरी की 'चन्द्रकांता' खत्री की चन्द्रकान्ता से भिन्न है । गुलेरी की दूरदर्शनीय चन्द्रकांता को खत्री जी की चन्द्रकांता की प्रतिछवि नहीं माना जा सकता । 'दमनीय महानता की दिलचस्प दास्तान' शीर्षक से इस महान लोकप्रिय उपन्यास पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचारा गया है ।

चन्द्रकान्ता संतति एक मनोरंजक एवं लोकप्रिय उपन्यास है। देवकी-नन्दन खत्री उपन्यास को कल्पित कथा मात्र समझते थे इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह उनके ध्यान में नहीं जाता था । उन्होंने स्वदेश विदेश की विचित्र कथाओं को बड़े मनोयोग से पढ़ा और उनके दिल में आया कि वे भी इसी प्रकार का अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरंजन करें । मनोरंजन के उद्देश्य से ही उन्होंने चन्द्रकान्ता की रचना की । वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे । मन्द जीवन में उत्तेजना । असंख्य तात्कालीन पाठक जो चाहते थे यह उन्हें उनके उपन्यास में मिला । लेखक की इससे बड़ी सिद्धि क्या हो सकती है ? डॉ.नगेन्द्र उनकी रचना धार्मिकता के बारे में लिखते हैं कि - 'खत्री जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं यह मैं नहीं जानता है । मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं कि - परन्तु मनोरंजन अवश्य करते हैं - मन की एकभूख को भोजन देते हैं, बस ।'[1] इस मनोरंजक उपन्यास पर राजेन्द्र यादव के विचारों का अध्ययन करने से पहले लोकप्रिय साहित्य की समाजशास्त्रीयता पर अध्ययन करना प्रासंगिक होगा ।

प्राय: ऐसा माना जाता है कि साहित्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण मनोरंजन होता है । देवकीनंदन खत्री ने भी मनोरंजन को ही उपन्यास

- -

1. काव्य चिन्तन - पृ.सं. 27

का उद्देश्य माना है । परन्तु केवल मनोरंजन ही साहित्य का उद्देश्य नहीं होना चाहिए । साहित्यकार सर्वोच्च स्थान पर है उसे केवल समाज का मनोरंजन ही नहीं करना है बल्कि उसका मार्गदर्शन भी करना है । सामाजिक जीवन को चित्रित करना ही साहित्य का उद्देश्य है ।

हिन्दी में गंभीर और साहित्यिक उपन्यासों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की दिशा में कुछ प्रयास हुए हैं । लेकिन लोकप्रिय उपन्यासों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की कोशिश बहुत कम दिखाई देती है ।

मैनेजर पाण्डेय के अनुसार इसका एक कारण आधुनिक समाज में साहित्य की वास्तविक स्थिति की समग्रता के बारे में आलोचकों की लापरवाही है । वे यह नहीं देखते कि जिसे हम साहित्य की दुनिया कहते हैं उसमें केवल महान और महत्वपूर्ण कृतियां और कृतिकार ही नहीं होते, उनमें केवल सौंदर्य-बोधीय प्रेरणा से संचालित पाठक ही नहीं होते, बल्कि साहित्यिक कृतियों के साथ-साथ लोकप्रिय लेखन और उसके विशाल पाठक-समुदाय की उपेक्षा करने वाले साहित्य जगत की समग्रता के एक बहुत बड़े अंश की उपेक्षा करते है ।[1] सच तो यह है कि लोकप्रिय साहित्य की उपेक्षा का एक और कारण वह अभिजनवादी दृष्टिकोण भी है जो हर प्रकार के लोकप्रिय साहित्य को असाहित्यिक, अशिष्ट, सतही, मनोरंजक और व्यवसायिक आदि कहकर उसकी उपेक्षा करता है ।[2] लोकप्रिय साहित्य के समाजशास्त्र के अविकसित होने का तीसरा कारण यह है कि हिन्दी में अभी साहित्य-विवेचन के अंतर्गत पाठक-समुदाय की दृष्टि से साहित्य पर विचार की कोई कोशिश भी नहीं दिखाई देती, इसलिए साहित्य

- -

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 98
2. - वही - - पृ.सं. 98

के विकास और उसके रूप के परिवर्तन में पाठक-समुदाय की रुचि की भूमिका का भी अभी कोई विवेचन नहीं हुआ है । अगर किसी ग्रंथ की प्रसिद्धि या लोकप्रियता में लोकरुचि की प्रतिध्वनि मिलती है तो पाठक-समुदाय की मानसिकता का पता लगाया जा सकता है । लोकप्रिय साहित्य के समाज-शास्त्र में एक विचारणीय सवाल यह है कि जिसे सस्ता और सतही साहित्य कहा जाता है उसे विशाल पाठक-समुदाय क्यों अपनाता है । यह बहुत स्वाभाविक है कि बिना किसी आंतरिक आवश्यकता के कोई पाठक किसी किताब को नहीं पढ़ता । इसलिए यह भी विचारणीय है कि लोकप्रिय साहित्य से पाठकों की किन मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और किन आकांक्षाओं की तुष्टि होती है । प्राय: यह कहा जाता है कि लोकप्रिय साहित्य भ्रमों को बढ़ावा देता है और पलायन की प्रवृत्ति पैदा करता है । अगर यह सही है तो विचारणीय यह भी है कि उन भ्रमों का स्वरूप क्या है और पाठकों को जीवन की वास्तविकता से पलायन की आवश्यकता क्यों महसूस होती है । इन सबके साथ ही लोकप्रिय साहित्य के समाजशास्त्र में विचार का विषय यह भी है कि ऐसे साहित्य के पाठक किस वर्ग के होते हैं ।

इस विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि चन्द्रकान्ता का भले ही साहित्य-मूल्य न हो फिर भी हिन्दी प्रचार और पाठकों की संख्या वृद्धि के कारण इसका योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है । कहा जाता है कि चन्द्रकान्ता के रसास्वादन के निमित्त अनेक जिज्ञासु लोगों ने हिन्दी सीखना आरम्भ किया । चन्द्रकांता और इस वर्ग के दूसरे उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्व उपेक्षणीय नहीं है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जिस उपन्यास या उपन्यासमाला ने साहित्य के लाखों पाठक पैदा किए हों, असंख्य लोगों को हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी हो और न जाने कितने लोगों से हिन्दी का

लेखक बनाया हो, उसका ऐतिहासिक महत्व स्वयंसिद्ध है । चन्द्रकान्ता का प्रकाशन 1887 में हुआ था । यह समय भारतीय समाज और साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण है । आश्चर्य की बात यह है कि हिन्दी आलोचना में इसके ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय महत्व की इतनी उपेक्षा क्यों हुई । हिन्दी में राजेन्द्र यादव ने चंद्रकांता संतति की अंतर्वस्तु और रूप का जो विश्लेषण किया है उससे लोकप्रिय उपन्यासों के समाजशास्त्र के विकास का आधार तैयार हुआ है ।

किसी भी विषय पर लिखने से पहले उसकी प्रासंगिकता को जान लेना आवश्यक है । आलोचक को यह समझ लेना चाहिए कि लिखने के पीछे उसका उद्देश्य क्या है ? चन्द्रकान्ता सन्तति पर लिखते हुए राजेन्द्र यादव के मन में सहज एवं सार्थक प्रश्न उठा कि उन्होंने सौ-साल पुरानी चन्द्रकान्ता जैसी किताब पर अपने छः महीने क्यों लगा दिये ? आज उस गड़े-मुर्दे को उखाड़ने की क्या मजबूरी या प्रासंगिकता है ?[1] छः महीने के गंभीर अध्ययन के पीछे सबसे बड़ा कारण तो उन्हें यह लगता है कि "जैसा कैओस, मूल्यों का जैसा घपला, सही-गलत की पहचान का जैसा एक सिरे से गायब हो जाना, उस समय के समाज में, या कम से कम इस उपन्यास में आया है, लोग जिस आसानी से खेमें बदलते हैं .... और इस बात की पड़ताल उनके लिए बहुत जरूरी हो गयी थी कि उस चातुर्दिक व्यापत कैओस में वे क्या सूत्र, युक्ति, जिद या आस्था थी जो लेखक को साधे हुए थीं, क्या था जो छः हजार पन्नों तक लेखक को चलाये रख सका ? परन्तु वे इस कोशिश में पूरी तरह सफल नहीं हो सके । चन्द्रकान्ता एक ऐसा उपन्यास है जिसकी लोकप्रियता एवं प्रासंगिकता

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 17

हमेशा बनी रहेगी । हम लोगों की पिछली तीन-चार पीढ़ियों का शायद कोई ही पढ़ा-बेपढ़ा व्यक्ति होगा जिसने छिपाकर, चुराकर, सुनकर, या खुद गर्दन ताने, आँखें गड़ाये इस किताब को न पढ़ा हो । उन्होंने इसकी तुलना कार्ल मार्क्स की किताबों से की है । इस उपन्यास के लिए लोगों ने हिन्दी पढ़ना सीखा परन्तु पुस्तक का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाये । इसके पीछे का कारण उन्होंने यह माना है कि - "रस सिद्धान्त में यह फिट नहीं होती थी और साहित्यिक उन्नासिक [स्नाबि] वर्ग ऐयारी-तिलिस्मी और घटाटोप घटना-प्रधान शुद्ध मनोरंजनग्राही उपन्यास को अपनी चिन्ता के लिए अछूत समझता था ।"[1] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस उपन्यास की जाँच केवल साहित्य के औजारों से नहीं की जा सकती । उस पूरे परिवेश और माहौल को समझना होगा जिसमें इसे लिखा पढ़ा गया था ।[2] कह सकते हैं कि जो जिस तरह के समाज में रहता है या जिस भीतरी बुनावट में जन्म लेता है, अपने लिए उस तरह की पुस्तक चुन लेता है । चन्द्रकान्ता पर बात करते हुए उन्होंने गेटे के उपन्यास "युवा वेर्दैर" की अन्तर्व्यथा बंकिमचंद्र के "आनंद मठ" और शरत के "देवदास" जैसे उपन्यासों का भी जिक्र किया है । अगर अपने समय की कुछ अत्यंत ही लोकप्रिय पुस्तकों के आधार पर किसी समाज के मनोविज्ञान के बारे में नतीजे ही निकालने हो तो मैं कहूँगा कि आन्तरिक घुटन और कुण्ठा में छटपटाते मन को "आनंदमठ" ने आशा और कर्म की उंगलियों से पकड़कर बाहर निकाला था तो दूसरी ओर बाद में "देवदास" युवा-मानस की रोमानी निराशा की मृत्यु का शोक गीत बनकर आया था । उनका मानना है कि "वेर्दैर" हो या "देवदास" इन्हें सिर्फ आत्महत्याओं या लेखकों की चरम निराशा की कहानियाँ मानना जल्दबाजी होगी ।

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 19
2. - वही - पृ.सं. 20

राजेन्द्र यादव ने चन्द्रकांता के साढ़े-पाँच, छः हजार पन्नों को गहराई से पढ़कर अनेक सवाल उठाये हैं जो आज भी अनुत्तरित हैं। सवाल यही है कि "चन्द्रकान्ता" (आशय इस शृंखला के सारे उपन्यासों से है) क्या "तिलिस्म-ए-होशरूबा" या "बोस्ताने-ख्याल" जैसे बृहद किस्सों से प्रेरणा लेकर इस स्पर्द्धा में लिख डाला गया कि हिन्दी में ऐसी कोई चीज़ नहीं है? या इसके पीछे कोई और भी अनजाने दबाव या स्पष्ट मंतव्य रहे हैं ? इसे क्या हम हम्जा के जवाब में हिन्दू धर्म और भारतीय मेधा की पुनर्स्थापना के लिए गढ़ा गया वैसा ही ग्रंथ मान सकते हैं जैसा कभी "रामचरित मानस" रहा था। क्या इस उपन्यास को लम्बा खींचते चले जाने के पीछे इतना ही कारण है कि सामाजिक जीवन व्यवस्थित हो गया था, मध्यवर्गीय लोग फुरसत में थे और समय काटने के लिए ऐसे लम्बे किस्से पढ़ते-चले जाना उनके लिए स्वाभाविक था।[1] वस्तुतः इन सवालों में ही जवाब भी निहित हैं। आलोचकों के द्वारा की गई सपाट बयानी से नाराज होकर ही उन्होंने इस उपन्यास में अपनी गम्भीरता दिखाई है। ..."हिन्दी में इस आलोचकीय दायित्व के प्रति मुज़रिमाना-उदासीनता ने ही मुझे बार-बार उकसाया कि एकबार इस चन्द्रकान्ता नाम के तिलस्म को तोड़कर देखने की कोशिश ही क्यों न कर ली जाये।[2] ..... उन्होंने यह जानने की कोशिश भी की है कि चन्द्रकान्ता की अभूतपूर्व और भयानक लोकप्रियता के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण क्या रहे। वास्तव में उपन्यास किसी गहरी अचेतन जरूरत को इंगित या प्रकट करता है या नहीं। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार इन सवालों के उत्तर की खोज़ करते हुए ही राजेन्द्र यादव ने देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का समाज-शास्त्रीय विवेचन किया है। इस प्रक्रिया में एक ओर लेखन की सामाजिकता और दूसरी ओर पाठक की मानसिकता की पहचान हुई है।[3]

---

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 23
2. - वही - पृ.सं. 24
3. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 101

जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में सामाजिक वास्तविकता सीधे रूप में प्रकट नहीं होती । उसमें लेखक और पाठक की सामाजिक चेतना भी सहज रूप में सामने नहीं आती । वास्तविकता और चेतना का बदला हुआ कभी-कभी विकृत और उल्टा रूप प्रकट होता है, इसलिए ऐसे उपन्यास फैंटसी है । यहाँ भी हर आदमी जो दीखता है वह नहीं है । जब समाज में सामने वाली सच्चाई या तो इतनी उलझ जाती है कि सही-गलत का भेद काले-सफेद का अन्तर नहीं रह जाता या अपनी सारी विश्वसनीयता खो देती है तो कथा साहित्य में व्यंग्य और फैंटसी का जन्म होता है ।[1] इस प्रसंगात् मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि फैंटसी वाली रचनाओं की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि वह जिस सामाजिक वास्तविकता की फैंटसी होती है उसके साझीदार लेखक और पाठक दोनों होते हैं । फैंटसी की यही साझेदारी पाठकों को आकर्षित करती हैं । ऐसी रचनाओं की समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए जरूरी है कि फैंटसी के आधारभूत यथार्थ का स्वरूप, उसके ऐतिहासिक संदर्भ और उसके माध्यम से व्यक्त होने वाली चेतना का विश्लेषण किया जाय । राजेन्द्र यादव ने यह काम किया है ।[2]

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की रचना का काल भारतीय समाज में गहरे उथल-पुथल का काल है । 1857 के गदर में हुईभारतीय समाज की पराजय को ही राजेन्द्र यादव "चन्द्रकांता" की अभूतपूर्व लोकप्रियता का कारण मानते हैं । इस संदर्भ में उनका मत है कि - "1857 में प्रकाशित"चन्द्रकान्ता" की अभूतपूर्व लोकप्रियता के पीछे मुझे एक कारण यह भी लगता है: चाहे ऐयारों के एक से एक अद्भुत कारनामें हो या तिलिस्म के चमत्कार, इन सबके पीछे एक चौकन्नी और विलक्षण बुद्धि प्रतिभा और उपलब्धियों का काल्पनिक आश्वासन

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 55-56
2. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 101

तो है ही । और भी आगे जाकर वे तो यह भी कहना चाहते हैं कि "चंद्रकांता" अपनी पराजय का ही इकबाली बयान {कन्फैशन} नहीं, बल्कि सामन्ती शौर्य की घनघोर असफलता के बाद बौद्धिक चातुर्य की दिशा में एक अचेतन प्रयोग है यानी भौतिक सामर्थ्य की व्यर्थता के बाद बौद्धिक श्रेष्ठता साबित करने का एक काल्पनिक और कमजोर प्रयास ।[1]

1857 की महान घटना के बाद भारतीय जनमानस में उपनिवेशवाद के दबावों को बाहर से स्वीकार करने के बावजूद भीतर से उसके अस्वीकार, प्रतिरोध और उपहास की स्थिति की वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । राजेन्द्र यादव के अनुसार उस समय के भारतीय मानस की इन स्थितियों की अभिव्यक्ति चंद्रकांता और दूसरे उपन्यासों में हुई है । उन्होंने लिखा है कि भारतीय मानस की ये सारी विसंगतियाँ और अंतर्विरोध चन्द्रकांता में भी है - काफी संश्लिष्ट और उलझे हुए । एक ओर प्रतिरोध की इसी जटिल सूक्ष्म और द्वन्द्वात्मक अमूर्त प्रक्रिया में तिलस्म को जन्म दिया तो दूसरी ओर ऐयारी में विरोध और स्वीकार का दूसरा रूप उभरने लगा । यह कह पाना कठिन है कि प्रतिरोध का स्वर ज्यादा प्रबल है या स्वीकार की दमित आकांक्षा। उन्होंने लिखा है कि मैं इसी द्वन्द्वात्मक सांस्कृतिक प्रतिरोध को चन्द्रकान्ता वर्ग के उपन्यासों का मूल कथ्य मानता हूँ ।[2]

देवकीनन्दन खत्री को पंतग उड़ाने और शतरंज खेलने का बड़ा शौक था। इसी शौक का प्रभाव उनकी उपन्यास कला पर पड़ा - "मुझे लगता है कि पात्रों की व्यूह रचना और पैंतरों में उनकी शतरंजी चालें दिखायी देती है तो कथानक को बढ़ाने समेटने के अन्दाज में पंतगबाजी के दांव-पेंच कभी वे ढील छोड़ते चले जाते हैं तो कभी सारे कथानक को चर्खी पर वापस लपेटते हुए लगते हैं - पेंच लड़ने

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 25
2. - वही - पृ.सं. 43

पर ढील, खींच, झटका और काट सभी का मांजा है ।[1] चन्द्रकान्ता के शिल्प और शैली को समझने के लिए उपर्युक्त विवेचन उचित है । उनकी कल्पना एवं विवेचना शक्ति कमाल है । यादव उस कुंजी को खोजने में सफल रहे जिसकी सहायता से सारे कथानक को खोला और समझा जा सके । उन्होंने "रामचरित मानस" और "संतति" की समानता को रेखांकित किया है ।

उपन्यास में जिस प्रेम को दर्शाया गया है कि वह जन्म-जन्मान्तर का प्यार न होकर सिर्फ एक यौनासक्ति ही होनी चाहिए जिसे दूसरे नर या मादा की तलाश है ।

राजेन्द्र यादव इस उपन्यास श्रृंखला के माध्यम से देवकीनन्दन खत्री की मानसिक बनावट या तात्कालीन समय के प्रभावों और सूत्रों को समझने की ही कोशिश ज्यादा करते रहे । यानी वे कौनसी महीन दरारे हैं जिनके जरिए सारे अवरोधों और अंकुशों के बावजूद तत्कालीन वास्तविकता ने उपन्यास में प्रवेश किया। .... उपन्यास शुद्ध काल्पनिक है और सिर्फ मनोरंजन के लिए लिखा गया है, यह तर्क या घोषणा अपनी जगह भी उतनी ही सही है, मगर लेखक की कल्पना और पाठक के मनोरंजन के पीछे भी तो कान लगाकर समय की आवाज़ सुनी जाती है । जैसे पात्रों के इस अपरिवर्तनीय इकहरे मनोविज्ञान के पीछे सिर्फ यही कारण नहीं है कि सबसे रिश्ते शुरू से ही तय है । सामंती व्यवस्था में सारे रिश्ते-राजा, सामंत या प्रभावशाली बुर्जुग के माध्यम से ही तय होते हैं । राजा के प्रति ईमान, सर्व-स्वीकृत या पूर्व निश्चित ही होता है । जब राजा या सामंत सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुणों का प्रतीक है तो हर कोई सबसे पहले उसी के लिए प्रतिबद्ध है । इसलिए रिश्ते दो ही बनते हैं कि आदमी,

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 27

राजा या राजा की संस्था और भी आगे जाकर परम्परा के लिए स्वामि-भक्त होता है या स्वामी द्रोही । राजेन्द्र यादव को लगता है कि "चन्द्रकांता की रीढ़ स्वामि-भक्ति की यही समस्या है । सामंतों और सामंती मूल्यों (जिन्हें आज भी प्राय: "भारतीय संस्कृति" कहकर गौरवान्वित किया जाता है) के प्रति यह चिन्ता क्या बहुत भीतर लेखक के मन में बैठी हुई थी ? [1]

चन्द्रकांता या उस शृंखला के दूसरे उपन्यासों में कहीं भी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति सीधे-सीधे नहीं आती । लेकिन ऐसा केवल यहीं नहीं हुआ है । उन्नीसवीं सदी के अधिकांश साहित्य में यही स्थिति दिखाई देती है । फिर भी उस काल का साहित्य अपने समय और समाज से किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है । इस जुड़ाव का एक रूप उस काल के भारतीय मानस में निहित द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में उपनिवेशवाद से पराजय की वास्तविकता और उसके प्रतिरोध की आकांक्षा एक ऐसी सच्चाई है जिसकी अभिव्यक्ति उस युग के साहित्य में हुई है । भारतेन्दु-युग के साहित्य में जिसे राजभक्ति और देश-भक्ति का द्वन्द्व कहा जाता है, वह पराजय और प्रतिरोध की द्वन्द्वात्मकता ही है । प्रतिरोध की आकांक्षा के अनेक रूप है । उन्नीसवीं सदी के साहित्य में भारत के गौरवमय अतीत की खोज और ज्ञान, दर्शन, परंपरा आदि के स्तर पर भारत की श्रेष्ठता पर जोर में प्रतिरोध की भावना ही काम करती है । राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि मुझे चन्द्रकांता अपनी स्वायत्तता की स्थापना और किसी भी विदेशी सत्ता के सचेत और निरंतर नकार की स्वप्नकांक्षा भरी कहानी लगती है । उन्होंने यह भी लिखा है कि पराजित और विवश राष्ट्र को अतीत और वर्तमान दोनों धरातलों पर एक साथ सहलाने की यही औपन्यासिक लेकिन प्रच्छन्न राष्ट्रीयता चन्द्रकांता की भयानक लोकप्रियता का कारण रही है ।[2]

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 34
2. - वही - पृ.सं. 48

राजनीतिक स्तर पर पराजय और मानसिक स्तर पर अतीत की महानता में जीने की कोशिश दयनीय ही कही जायगी । लेकिन उस समय की भारतीय जनता के सामने और विकल्प क्या था ? बाहर से पराजित मन विजय-कल्पना में या कम-से-कम अपनी अपराजयता की कल्पना में खोए रहने की कोशिश करता है । यही स्थितियां चंद्रकान्ता और उस वर्ग के दूसरे उपन्यासों में दिखाई देती हैं । इसलिए इसे राजेन्द्र यादव ने "दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान" कहा है । ऐसे उपन्यासों के बारे में अन्तोनियो ग्राम्शी ने लिखा है कि ये जनता की कल्पना को कथा में ढालने के कारण ही लोकप्रिय होते हैं, उनकी फैन्टेसी में पाठकों की दिवास्वप्न की प्रवृत्ति मौजूद रहती है और कई बार ये दिवास्वप्न जन मानस की राजनीति-सामाजिक हीनता-ग्रंथ से प्रेरित होते हैं । इसीलिए ऐसे उपन्यासों में विरोधियों से बदला लेने और अपराधियों को दण्ड देने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है ।[1] चंद्रकांता और उस श्रृंखला के दूसरे उपन्यासों में विरोधियों से बदला लेने और अपराधियों को दण्ड देने की स्थितियां कदम-कदम पर दिखाई देती हैं । सच तो यह है कि यही दो बातें सारे उपन्यासों की संरचना को आगे बढ़ाती दिखाई देती हैं । इन दोनों बातों में कल्पना के स्तर पर उपनिवेशवाद से पराजित मन को संतोष मिलना स्वाभाविक है । इन उपन्यासों की लोकप्रियता का एक कारण यह भी है ।[2]

चन्द्रकान्ता और इस श्रृंखला के उपन्यासों के अधिकांश पाठक मध्यवर्ग के थे । यह वही द्विधाग्रस्त मध्यवर्ग है जिसकी विशेषताओं की ओर डी.पी. मुखर्जी ने संकेत किया था । इस मध्य वर्ग में जमींदार और अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित समुदाय की प्रधानता थी । इसीलिए उसमें एक ओर उपनिवेशवादी शासकों और पश्चिमी सभ्यता के प्रति आकर्षण था तो दूसरी ओर भारत के

- -

1. अन्तोनियोग्राम्शी - कल्चरल राइटिंग्स - पृ.सं. 349
2. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 104

गौरवमय अतीत की स्मृति भी थी । मानसिक स्तर पर ये दोनों बाते तरह-तरह की प्रवृत्तियों और कल्पनाओं में प्रगट हो रही थीं"। वह मध्यवर्ग नये दरबार में जगह पाने की आकांक्षा भी रखता था और उसमें प्रायश्चित का भाव भी था । राजेन्द्र यादव के अनुसार भूतनाथ के चरित्र में उस काल के मध्यवर्ग की मानसिकता व्यक्त हुई है । उन्होंने लिखा है कि "उसमें मध्य-वर्गीय जटिलताओं, अंतर्विरोधों का बेहद ही संश्लिष्ट रूप गुंथा है । स्वामी के प्रति वफादारी या नमक अदायगी के संस्कार सुरक्षा सम्मान की आकांक्षा और स्वतंत्र व्यक्तित्व की चेतना या दबंगई दोनों का संघर्ष वहां साफ और समानांतर है । सच पूछा जाय तो हरेक के प्रति उसके संबंध या रवैये द्विधा द्वैत में बंटे हैं । वह राजा के दरबार में भी बहुत खुले और बेबाक मन से नही जाता । वहां भी उसने अपने व्यक्तित्व के बचाव के अनेक कवच धारण किए हुए है ।[1] चंद्रकांता और ऐसे दूसरे उपन्यासों में किसी चरित्र का कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है । चरित्रों में कोई उतार-चढ़ाव भी नहीं मिलता । सबकी विशेषताएं पहले से तय हैं । केवल भूतनाथ ऐसा चरित्र है जिसके व्यक्तित्व में थोड़ी-सी जान है । इसलिए देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के पाठक उपन्यास की कथा को और यहां तक कि उपन्यास को भले भूल जाएं, लेकिन वे भूतनाथ को याद रखते थे । प्रायः श्रृंखलाबद्ध लोकप्रिय उपन्यासों के नायकों के साथ ऐसी स्थिति दिखाई देती है । ऐसे नायकों से भावना और कल्पना के स्तर पर पाठक एकता अनुभव करते हैं । इसलिए उपन्यास भी लोकप्रिय होते हैं । ग्राम्शी ने लिखा है कि "ऐसे उपन्यासों का लेखक और उसका व्यक्तित्व पाठकों के लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना उसका नायक । जब वे नायक पाठकों के मन में बस जाते हैं तब वे लेखक से स्वतंत्र अस्तित्व धारण कर लेते हैं ..."[2]

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 51-52
2. अन्तोनियोग्राम्शी - कल्चरल राइटिंग्स - पृ.सं. 350

और पाठकों की कल्पना में विकसित होते रहते हैं । अगर मूल लेखक के हाथों ऐसे नायकों की मौत हो जाती है तो भी पाठकों के मन में वे जीवित रहते हैं । इसीलिए शृंखलाबद्ध उपन्यास लोकप्रिय होते हैं ।

राजेन्द्र यादव के अनुसार चन्द्रकान्ता वर्ग के उपन्यासों में दौलत को छिपाने या दौलत को सही हाथों सौंपने और हथिया लेने के संघर्ष की महागाथा एक तरह से भारतीय अस्मिता की खोज़ है । यह देवकीनंदन खत्री की ऐतिहासिक सीमा है कि वे भारतीय अस्मिता का असली हकदार सामंत को समझते हैं । मूल्यों के स्तर पर भी सामंती और सामंतवाद विरोधी मूल्यों का द्वन्द्व उपन्यास में दिखाई देता है । एक ओर सभी उपन्यासों में स्वामीभक्ति की समस्या छायी हुई है तो दूसरी ओर ऐयारों के माध्यम से साधारण लोग पूरे उपन्यास में धीरे-धीरे प्रभावशाली बनते दिखाई देते हैं । मूल्यों के इस द्वन्द्व में उस दौर की ऐतिहासिक वास्तविकता प्रकट हुई है । भारतीय अस्मिता की खोज़ का दूसरा रूप वह है जहाँ अंग्रेजी शासन के समानांतर भारतीय राज्य का सपना उभरता दिखाई देता है । राजेन्द्र यादव ने उस युग की भारतीय मानसिकता से इन उपन्यासों की दुनिया में मौजूद मूल्यों, मान्यताओं, सपनों आदि का संबंध जोड़ते हुए लिखा है कि ये सब उस मनोवैज्ञानिक दुनियां के हिस्से हैं जो तुड़-मुड़कर कुण्ठित और विकृत हो गई है । यही मानसिकता फैन्टसी के विकृत बिंबों के रूप में उपन्यास में व्यक्त हुई है ।

राजेन्द्र यादव ने "चन्द्रकान्ता" और "रामचरितमानस" के रचनाकारों के मंतव्यों में समानता पायी है । उनका मानना है कि अपने समय की भयानक अव्यवस्था और अस्थिरता ही रही होगी कि रामके रूप में तुलसी ने ऐसे आदर्श नायक की परिकल्पना की जो वर्णाश्रम धर्म या कहना चाहिए तत्कालीन समझ के हिसाब से व्यवस्था शांति की स्थापना कर सके ... और कुछ ऐसा ही वातावरण पाया होगा देवकीनंदन खत्री ने अपने आस-पास ।[1]

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 38

बच्चन सिंह को भी "चन्द्रकान्ता" में भारतीय अस्मिता के साथ "रामचरित मानस" याद आता है । दोनों ही दो विदेशी शासनों के स्थापित होने के बाद ही लिखी गयी । यह भी एक समानता ही है । इसकी ओर ध्यान देने की जरूरत नहीं है कि एक सामन्ती व्यवस्था में लिखी गयी तो दूसरी पूंजीवाद की आरंभिक अवस्था में । राम-लक्ष्मण को ले आकर जो अद्भुत रूपक खड़ा किया गया है वह किसी करिश्में से कम नहीं हैं । किंतु खण्डित ऐतिहासिक दृष्टि के कारण श्रमपूर्वक लिखी गयी इस समीक्षा का कोई समन्वित प्रभाव न पड़कर इससे कुछ कटे-पिटे गलत बिम्बों की सृष्टि होती है।[1]

भारतीय समाज की सारी विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध "चन्द्रकांता" में भी है । इन्हीं विसंगतियों और अन्तर्विरोधों को राजेन्द्र यादव अपनी दृष्टि से खोज़ा है । उनका मानना है कि देवकीनंदन खत्री का सारा जोर इन अतिमानवीयताओं से हटकर बौद्धिक कौशल पर है । हर कार्य का एक कारण है, हर घटना के पीछे एक सूत्र है और उपन्यास में घटित होनेवाले हर चमत्कार की एक वैज्ञानिक परिभाषा दी जा सकती है - यही खत्रीजी का गुर है ।[2] वे ही खत्रीजी को इतने करीब से देख पाये और ईमानदारी से उपन्यास का विश्लेषण किया । इसीलिए वे लिखते हैं कि खत्रीजी सचमुच हिंदी के वे पहले व्यक्ति है जिन्होंने समय की अनिवार्यता को गंभीरता से पकड़ा कि उपन्यास औद्योगिक सभ्यता की ही उपज है और पुराने-नये मूल्यों के द्वन्द्व से ही उसका जन्म होता है ।[3]

राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक लेख "दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान : चन्द्रकान्ता संतति" के सम्बन्ध में आलोचक बच्चन सिंह लिखते है कि

- -

1. आलोचना - अप्रैल - जून 84 / पृ.सं. 67
2. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 44
3. - वही - पृ.सं. 55

इसके पुनर्मूल्यांकन के लिए मैं लेखक के अध्यवसाय और व्यापक फलक की दाद देता हूँ पर स्वयं वह इतिहास - दृष्टि काफी गड्डमड्ड है, इतनी गड्डमड्ड कि स्वयं तिलिस्म बन जाती है । "राह और मात" में लेखक लिखता है, पहले मैं केवल सुना करता था कि आलोचक वे-वे बाते रचनाओं के बारे में करते हैं जो लेखक ने सात जन्मों न सोची हैं ।" "आश्चर्य तो यह है कि "चन्द्रकान्ता" सन्तति" में लेखक ने खुद वही कर दिखाया ।[1]

इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि जिस तरह पी.सी.जोशी ने प्रेमचंद और उनकी रचनाओं पर विचार करते हुए औपनिवेशिक युग की किसान समस्या से आज की किसान-समस्या को जोड़ा है, उसी तरह राजेन्द्र यादव ने चन्द्रकांता के विश्लेषण के माध्यम से उन्नीसवीं सदी के औपनिवेशिक भारत में मूल्यहीनता की स्थिति को आज की मूल्यहीनता की स्थिति से जोड़कर देखा है । विश्लेषण की इस दृष्टि से एक ओर गंभीर सा हित्य और दूसरी ओर लोकप्रिय साहित्य के मूल्यांकन में समाजशास्त्रीय पद्धति की सार्थकता प्रकट हुई है ।[2]

राजेन्द्र यादव ने समीक्षा के लिए जिन उपन्यासों को चुना उसमें शीर्ष पर "चन्द्रकान्ता" थी । और इसकी समीक्षा पर उन्होंने जितनी ईमानदारी एवं गम्भीरता से कार्य किया है वह अद्वितीय है ।

राजेन्द्र यादव ने जैनेन्द्र के उपन्यास "सुनीता" पर भी समीक्षात्मक टिप्पणी की है । इसमें उन्होंने पत्रात्मक शैली का प्रयोग किया है और ऐसा माना जाता है कि इस शैली में वे माहिर है । सुनीता का पत्र सधे हाथों लिखा गया है जो नारी की पारदर्शी व्यथा के साथ नवीन मूल्यों से भी सम्पृक्त है । नारी मुक्ति का बिज स्वर इसमें सुनाई देता है । उनकी

- -

1. आलोचना - अप्रैल - जून 84/ पृ.सं. 64
2. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 105

सुनीता (जो नारी जाति की प्रतिनिधि है) अपने पिता से सवाल कर रही है । "अगर जैनेन्द्र का पत्र सुनीता के नाम लिखा गया होता तो और भी मजेदार होता । लेकिन सुनीता के पत्र पर जैनेन्द्र को आपत्ति हो सकती है । उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आन्ना, एम्मा, कोनी को नहीं लाया जा सकता ह था । जिस नयी पीढ़ी को सुनीता कुण्ठा, विकृति से मुक्त मानती है वह आदर्शवाद है । उसमें कुण्ठाओं, विकृतियों, यौनबुभुक्षाओं, भ्रष्ट आचारों का नंगा नाच हो रहा है जो निर्लज्जता की सीमा पार कर गया है । ताजमनी के सिलसिले में इतिहास को दिशा-विशेष की ओर मोड़ने का इशारा करके लेखक दुखती रग पर उंगली रख देता है ।[1] जहाँ पांडित्य का प्रदर्शन नहीं है, ढेर-से सन्दर्भ नहीं बटोरे गये हैं, एकेडेमिक हथकण्डों का प्रयोग नहीं हुआ है वहाँ यादव की रचनात्मकता भी उभरी है और ऐतिहासिक दृष्टि भी ।

राजेन्द्र यादव ने आधुनिक नारी के रूप में "सुनीता" के व्यक्तित्व को पुन:जागृत किया है । इसमें उन्होंने नारी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं । तथा यहाँ नारीवादी आलोचना के बीज देखने को मिलते हैं । नारी की सेक्स-स्वतन्त्रता पुरुष को स्वीकार्य नहीं । नारी की नियति "घर" और "पति" की सेवा ही है तो क्यों उसे सपने दिखाये जाते हैं । सुनीता का यह प्रश्न सच्चाई को ईमानदारी से प्रस्तुत करता है । नारी की स्वतंत्रता से पुरुष के अहं को ठेस लगती है तो क्यों नहीं वे अपनी "आउट आफ डेट्स" की रहस्यमय को छोड़ देते ।

सुनीता जैनेन्द्र के अन्तर्मन की उपज है । उसका जो चरित्र है वह उनकी सोच है जिसमें अन्तर्विरोध देखने को मिलता है । वे विचार से नारी मुक्ति के पक्ष में हैं परन्तु उनके नारी पात्र सर्वदा मर्यादा की गुलामी में जकडी

- -

1. बच्चन सिंह - आलोचना - अप्रैल - जून 84/ पृ.सं. 67

रहती हैं । राजेन्द्र यादव ने उसे आधुनिक दृष्टि से दुबारा जीवित किया जो अपने पिता {जैनेन्द्र} से अकाट्य तर्क देते हुए नारी सम्बन्धी प्रश्न पूछती है । उन्होंने सुनीता को हरिप्रसन्न {पुरुष} के सामने निर्वस्त्र कर दिया और यादव ने पिता {कृष्ण} के सामने उसे {बेटी} को निर्वस्त्र कर दिया । उन्होंने नारी मुक्ति की आड़ में मर्यादा को पूरी तरह नजर अन्दाज किया, जो तर्कसंगत नहीं लगता । निर्लज्ज, मुक्ति, मर्यादा, आधुनिकता, स्वतंत्रता आदि शब्दों को सूक्ष्म रूप से पुनः विवेचित कर नये अर्थों में परिभाषित करने की आवश्यकता है ।

राजेन्द्र यादव ने सुनीता के माध्यम से जैनेन्द्र के बनावटी स्वभाव संस्कार और नारी के प्रति दिखावटी संवेदनाओं को धराशायी किया है । जैनेन्द्र भी सामान्य पुरुष की तरह प्रचंड-सत्य की प्रखर ज्योति से आँख मिलाने में असमर्थ हैं । वे अन्तिम समय में कदम पीछे हटा लेते हैं और सुनीता को अकेला छोड़ देते हैं । या यों कहे, सारा दोष नारी पर मढ़ देते हैं । उनके नपुंसक व्यवहार से कुढ़ती हुई वे प्रश्न पूछती है कि आपने क्यों मुझे ऐसी दृढ़ता दी, ऐसा ओज दिया, ऐसे प्रकृत-नारीत्व से अभिमंजित किया, कि मेरे आस-पास का सारा पुरुष वर्ग सहसा ही, हत-तेज होकर नपुंसक हो उठा ? वह पूछती है कि जब आपके संस्कार ऐसे ही थे, तो क्यों आपने मेरी आदिम नारी को वे गीत सुनाये कि वह मुक्त-वासना, दिगम्बरी जन चुटीली सर्पिणी सी तड़पकर फुफकार उठी तो स्वयं आपके हाथ पांव फूल गये ? मैं साफ कहती हूँ कि मेरे अनावृत रूप को देख कर आँखे बंद करके जो मैदान छोड़ भाग खड़ा हुआ था, वह हरिप्रसन्न नहीं, खुद मेरा स्रष्टा, यानी आप थे- जो मुझे सह नहीं पाये ।[1]

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 61

राजेन्द्र यादव का मानना है कि नारी की नियति केवल घर ही है तो क्यों उसमें नारी मुक्ति की भावना का बीज़ बोया जाता है । वे सुनीता की ओर से जैनेन्द्र से पूछते है कि - क्यों आप हमारे ऊपर यह लादते रहे कि, "मैं इस घर से टूट जाऊँगी तो जिऊँगी नहीं । मैं इस योग्य नहीं हूँ ? जब घूम-फिर कर घर ही हमारी नियति है, वह परम्परागत पति ही हमारी गति, या हमारा श्रेय और प्रेय है तो फिर मन के भीतर पैठकर "स्वतन्त्र-इच्छा" और "नारीत्व" की खोज की विडम्बना आखिर क्यों ? क्यों यह सारी शिक्षा-दीक्षा, है कला और साहित्य है, देश और विदेश है, ज्ञान और विज्ञान है, परिचर्या और सेवा है, प्रेम औरत्याग है जिन सबका पाठ हमें रात दिन पढ़ाया जाता है ? क्यों आखिर हमारे विवेक और इच्छा-शक्ति को इतना सशक्त और प्रबुद्ध बनाया जाता है, कि हम पसन्द और ना-पसन्द कर सकें, चुन और छोड़ सकें और अपने किये की जिम्मेदारी स्वयं समझ कर जीवन्त प्राणी की तरह नये प्रयोग और नये प्रारम्भ कर सकें ? "संस्कृत" और "शिक्षित" बनाने के लिए क्यों हमें, "बाहर" तक ले जाया जाता है या "बाहर" को हमारे सम्पर्क में लाया जाता है ?[1]

राजेन्द्र यादव ने सुनीता को माध्यम बनाकर जो सवाल उठाये हैं वे वास्तव में स्वयं उनके मस्तिष्क की उपज हैं । पुरुष पुरुष ही होता है । जो आरोप जैनेन्द्र पर लगाये गये उन आरोपों से राजेन्द्र यादव स्वयं भी बच नहीं सकते । यादव मर्यादाविहीन नारी मुक्ति की बात करते हैं । परन्तु यथार्थ जीवन में सम्पूर्ण पुरुष जाति के नारी सम्बन्धी विचार समान हैं । सुनीता के सवालों ने जैनेन्द्र को ही नहीं सम्पूर्ण पुरुष जाति को औरस्वयं राजेन्द्र यादव को भी कटघरे में खड़ा किया है । वास्तविक रूप से देखा जाय तो ये भी

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 63

जैनेन्द्र की ही तरह एक ओर नारी व्यथा बताकर सहानुभूति लूटते हैं, दूसरी ओर रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति सच्चे होने की आस्तिकता निभाते हैं। अन्तर्विरोधों से वे भी पूरी तरह से बचे नहीं हैं। यह मानव की मूल प्रवृत्ति है।

अन्य आलोचकों ने बूँद और समुद्र की सतही धरातल पर छानबीन की है। उन्होंने केवल कथानक की शिथिलता एवं पात्रों की बहुलता पर ध्यान दिया है किन्तु बूँद और समुद्र पर चर्चा करते हुए राजेन्द्र यादव ने ऐतिहासिक उपन्यासों और उपन्यासकारों पर अपना मत व्यक्त किया है। घटनाएँ थम जाएँगी, इतिहासकार उनके वास्तविक तथ्यातथ्य को सम्भावित व्याख्याओं के साथ निकाल कर रख देंगे, उसके बाद हम उन्हें अपने उपन्यास के कथानक में गूँथेंगे, इस भावना के पीछे उन्हें लेखक के आत्मविश्वास और अन्तर्दृष्टि की कमी महसूस होती है। ईमानदारी और सत्य को पाने के आग्रह का भरसक आदर करते हुए भी वे लेखक के दृष्टिकोण के प्रति शंकाशील अवश्य हो उठते हैं। उनका मानना है कि उपन्यासकार एक आदर्श नागरिक हो या न हो (और प्राय: नहीं ही होता), लेकिन आज के ज़माने में उसे सचेत नागरिक तो होना ही पड़ता है। यों घटनाओं को ठण्डी हो लेने देने की प्रतीक्षा के कारण उस वैयक्तिक आवेग और अनुभूति की तीव्र प्रतिक्रिया से प्राय: रचना वंचित रह जाती है, जो घटनाओं की ताज़गी से ही उत्पन्न होती है। उनकी यह बात गले से नीचे नहीं उतरती कि – "शायद उपन्यास में – या किसी भी कृति में रोचकता और रस भी आवेग की गहराई और अनुभूति की तीव्रता से ही आते हैं।"[1] अनुभूति की गहराई से कृति में रोचकता और रस आ सकता है, परन्तु घटनाओं का तात्कालिक आवेग समाज के लिए अहितकारी भी हो सकता है। शायद इसीलिए कुछ घटनाओं के ठण्डे होने पर ही लिखना उचित

- -

1. अठारह उपन्यास – पृ.सं. 66

है । उनके अनेक वक्तव्य अन्तर्विरोधों से भरे है । वे स्वीकारते हैं कि - "यह ठीक है कि जिस क्षण को हम जीते हैं, उसे समग्रत: तटस्थ होकर कभी नहीं लिख पाते, लिख उसी क्षण को पाते है जिसे जी चुकते हैं, विगत क्षण का मानसिक आकलन ही लिखने की प्रेरणा है ।"[1]

सफल उपन्यास के गुण के बारे में उनका मानना है कि - "शायद सफल उपन्यास का सबसे बड़ा गुण भी यही हो सकता है कि वह वर्तमान को ऐसा सटीक बना दे कि ऐतिहासिक महत्व की चीज़ हो जायें, और इतिहास को ऐसा नया सजीव-सवाक् बना दे कि वह वर्तमान जैसा लगे ।"[2]

"बूँद और समुद्र" पर बात करते हुए राजेन्द्र यादव ने साधुओं एवं चमत्कारियों को पूजे जाने पर अपना आक्रोश व्यक्त किया है । इससे उनकी आधुनिक सोच उभरती है । आक्रोशात्मक शैली अपनाते हुए भी उन्होंने इस बात से इनकार नहीं किया कि "बूँद और समुद्र" हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों में से एक है । इसे लेखक "गोदान" के बाद "भारतीय जीवन का दूसरा महा-काव्य कहता है । किन्तु वह इसकी व्याख्या नहीं करता । अन्तर्विरोधों से भरे इस बृहद्काय उपन्यास की सृष्टि क्यों हुई यह अविचारित ही रह जाता है । "बूँद और समुद्र" के पैटर्न की तरह "डिटेल" का शौक, सारी जानकारियों को एक साथ उड़ेल देने की आकांक्षा समीक्षा को भी बोझिल बना देती है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है "बूँद और समुद्र" की व्याख्या में उनकी आधुनिक दृष्टि उभरती है । वे स्वभाव एवं लेखकीय परिप्रेक्ष्य से आधुनिक है । इसी स्वभाव के कारण उन्हें इस उपन्यास के बाबारामजी के

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 67
2. - वही - पृ.सं. 67

चरित्र और टोने-टोटके एवं तंत्र-मंत्र पर निहायत आपत्ति है । बकौल राजेन्द्र यादव - "अगर अपनी सांस्कृतिक विरासत का मोह और इतिहास का प्रेम इस नतीजे और स्तर पर ला कर खड़ा कर दे तो सचमुच हमें उस सबकी कोई आवश्यकता नहीं है ।"[1] उपन्यास के अन्तर्विरोध को उनकी पैनी दृष्टि ने बारीकी से पहचाना है । उन्होंने उपन्यास में चित्रित मध्यवर्ग को द्वितीय महायुद्ध से पहले का मध्यवर्ग कहा है । नागर जी की तुलना वे चेखव से करते हैं तथा उन्हें भारत का अद्वितीय हास्य लेखक मानते हैं।

राजेन्द्र यादव ने आलोच्य चिन्तन के लिए धर्मवीर भारती के दो उपन्यासों को चुना है । "गुनाहों का देवता" श्री भारती का पहला उपन्यास है । अधिकांश आलोचकों की राय में इसमें भावनात्मक और बचकानी भावुकता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, परन्तु राजेन्द्र यादव इस मत से पूरी तरह सहमत नहीं हैं । निश्चित रूप से उपन्यास को देखने का उनका नजरिया विशिष्ट है । उनके पास औरों से भिन्न असाधारण विश्लेषण-प्रतिभा है । इस लेख से ज्ञात होता है कि वे कभी भी पक्षपातपूर्ण या पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर व्याख्या नहीं करते । इसमें भूमिका और उपन्यास के अन्तर्विरोध को सूक्ष्मता से पकड़ा गया है । बकौल राजेन्द्र यादव - "गुनाहों का देवता" में यदि भूमिका का आधार लेकर चला जायेगा तो पाठक बीच में ही खो जाएगा, उलझ जायगा । वस्तुतः बात यह है कि पूरे उपन्यास और भूमिका में कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं है, यह विचारशीलता और हेतुवादिता की टोपी तो ऊपर से "जबर्दस्ती पहना ही गई है और उसमें असलियत की तरह चुटिया अलग झांक रही है ।"[2] उपन्यास के पात्र समाज के किसी भी फौलादी शिकंजे से न लड़कर अपनी मानसिक

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 72
2. - वही - पृ.सं. 94

कमजोरियों से लड़ता है । इसमें घटित घटनाओं का उत्तरदायी समाज न होकर स्वयं व्यक्ति है । उन्होंने सुधा की तुलना "शेखर" के नारी पात्रों से की है । यह एक रसात्मक उपन्यास है । इसीलिए आलोचना को रसात्मकता प्रदान करने के लिए स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धों के वर्तालाप की ही लेख में बहुलता है । पूरे लेख में केवल संवादों के उद्धरण हैं ।

राजेन्द्र यादव ने धर्मवीर भारती के उपन्यास "सूरज का सातवां घोड़ा" की भी चिन्तन परक समीक्षा की है । भारती जी ने प्रस्तुत उपन्यास पर स्वयं इतना लिख दिया है कि किसी और के लिखने के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा । उन्होंने सारा उत्तरदायित्व "माणिक मुल्ला" पर छोड़ दिया। प्रस्तुत उपन्यास पाँच या चार कहानियों का संकलन है । इस शैली में उपन्यास लिखने में भारती जी ने अपना अनोखा परिचय दिया है वे इतने चतुर और कुशल हैं कि उन पर कोई सफलता असफलता का फतवा दे, ऐसा अवसर उन्होंने छोड़ा ही नहीं । बकौल राजेन्द्र यादव - "कहानी पर टैकनीक के इतने पलस्तर हैं कि कहानी दब-दुबक कर रह गई है और वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि वे पलस्तर इतने कुशल हाथों से किये गये हैं कि कहानी और टैकनीक- दोनों पर कुछ कहना खतरे और विवाद से खाली भी नहीं है ।"[1] उपन्यास की कहानियाँ निम्न मध्यवर्ग को चित्रित करती हैं । जिसे हम रोज अपने आस-पास देखते हैं, जिसने हमें खोखला, निस्सत्त्व और निराश बना दिया है । उन्होंने नागर की तरह भारती जी में भी चेखव की झलक देखी है । वे भारती जी को शैली का जादूगर मानते हैं - "इस प्रकार इन सवा-सौ पृष्ठों में भारती ने सवा-हजार पन्नों की बात कही है । यह उनकी कला या सबसे बड़ा कमाल है - क्योंकि इसी भारती ने - "गुनाहों का देवता" के चार-सौ पन्नों में केवल चार पन्नों की बात कही थी, वहीं उनकी शैली है कि वे चार

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 110

सौ पन्ने भी "बोर" नहीं थे। धर्मवीर भारती ने भूमिका में मार्क्सवाद को समझने पर काफी ज़ोर दिया है परन्तु राजेन्द्र यादव को इस समझ पर शंका है इसीलिए वे कहते हैं - "यदि उन्होंने मार्क्सवाद समझ लिया होता या उसका आधार लिया होता तो निरन्तर उनके कानों में गूँजनेवाली ये पग-ध्वनियाँ इतनी अनजान, इतनी अपरिचित और इतनी बिरानी नहीं लगती निश्चित रूप से वे शक्ति - तत्व भी इस तमाम जिन्दगी में से वे खोज़ ही लाते, क्योंकि उनकी निगाह, सूझ और निडर ईमानदारी पर हमें विश्वास है। (व्यक्तिगत रूप से चाहे वे जिस राजनैतिक दल से बंधे हों)।"[1] उन्होंने फिर जोर देकर अन्धविश्वास का विरोध किया है। वे भाग्य की अपेक्षा कर्म पर बल देते हैं। अनेक लोग मार्क्सवाद की गहराई को जाने बिना मार्क्सवादी होने का दिखावा करते हैं। कितने लोग है जिन्होंने मार्क्सवाद को समझ लिया है और कितनों ने शक्ति तत्व खोज़ निकाले है।

राजेन्द्र यादव "तू मेरी कह, मैं तेरी कहूँ" इस तथ्य को नहीं मानते। इसीलिए उनकी समीक्षात्मक कठोरता कई बार व्यंग्य का रूप धारण कर लेती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास "गर्म राख" की समीक्षा में इसी शैली को अपनाया गया है। उपन्यासकार हर बार अपना आकार बदलकर अपने को महान बनवाने में लगा है। कविता के क्षेत्र में अश्क की ख्याती है परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में उन्हें उचित स्थान नहीं मिला। "गर्म राख" चर्चित उपन्यास है परन्तु पाठक रामायण की तरह साल में दो बार पढ़े, सम्भव नहीं। उन्होंने दबे स्वर में "गर्म राख" को मौलिक उपन्यास माना है। उनके शब्दों में - "गर्म राख" चाहे हिन्दी की नई उपन्यास परंपरा का एकदम निर्दोष सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तो नहीं, हाँ उपन्यास के नये मोड़ का प्रतीक अवश्य है।"[2] "गर्म राख" में उन्होंने यथार्थवाद को रेखांकित करते हुए

---

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 117
2. - वही - पृ.सं. 120

लिखा है - "गर्म राख" का यथार्थवाद ही वह सबसे बड़ा तत्व है जो उसे हिन्दी की उपन्यास परम्परा से अलग और विवेच्य बना देता है ।"[1]

इस उपन्यास पर लिखते हुए राजेन्द्र यादव एक विशेष द्वन्द्व से जूझ रहे हैं । यह एक द्वंद्वात्मक आलोचना है । एक साथ सब कुछ लिख देने के मोह ने उन्हें उलझा दिया है । कई बार लगता है वे समीक्षा के लिए समीक्षा लिखते हैं । उन्होंने भूमिका में पेशेवर समीक्षा का विरोध किया है । परन्तु आश्चर्य है कि उन्होंने स्वयं पेशेवर आलोचनाएँ की है । "गर्म राख" में कहीं भी गम्भीर विवेचन दिखाई नहीं देता । प्रत्येक लेखक का एक पैटर्न होता है उस पैटर्न का अतिक्रमण करते रहना ही सार्थक एवं सच्ची आलोचना है । उपन्यासों की आलोचना करते हुए वे पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहे हैं । उन्होंने जितनी गहराई से चन्द्रकान्ता और सुनीता को समझा है उतनी गहराई अन्य उपन्यासों की समीक्षा में नहीं है । "गर्म राख" के सन्दर्भ में वे एक अत्यंत लोकप्रिय औजार यथार्थवाद की चर्चा करते हैं । इसमें पैंतरा बदलकर वह विश्वविद्यालयी पैटर्न अपना लेते हैं । यहाँ पर मार्क्स, ऐंगिल्स, राल्फ फाक्स पैज़,माओ, टॉल्सटॉय, राबर्ट फास्ट, एडमस, रामविलास शर्मा सभी एकत्र है । उद्धरणों की अच्छी खासी कतार लगी हुई है । इनके माध्यम से वह यथार्थ की व्याख्या करते हैं । जब इससे बात साफ नहीं होती तो वह "सामाजिक यथार्थ" या "समाजवादी यथार्थवाद" को भी उछालते हैं । पर "समाजवादी यथार्थवाद" कोई रूढ़िबद्ध फार्मूला नहीं रह गया है । प्रश्न यह उठता है कि इसके लिए "गर्म राख" जैसे लिजलिजे उपन्यास को क्यों चुना गया? इससे शंका होने लगती हैं कि यादव मार्क्सवादी "फ्रेमवर्क" को ज्यों-का त्यों स्वीकार करके चल रहे हैं या अपने को कहीं स्थापित करने की चेष्टा में है ।[2]

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 120
2. आलोचना, अप्रैल - जून, 84 / पृ.सं. 67

"परती परिकथा की ताजमनी" लेख में सुनीता की ही तरह नारीवादी आलोचना उजागर होती है । राजेन्द्र यादव यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रेणुजी ने ताजमनी के चरित्र के साथ-साथ न्याय नहीं किया है । इस समीक्षा में वर्तालाप शैली का प्रयोग किया गया है । यादव जी ताजमनी से वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि - "यही तो मेरी शिकायत है ताजू दी आपको बोलने नहीं दिया गया ।" ... "आपके साथ-न्याय नहीं किया गया ... ।"[1] इस समीक्षा में बड़प्पन का भाव उजागर होता है । इसमें अपने पात्र को श्रेष्ठ बताने की भयंकर गलती की गई है और "परती परिकथा" की शैली को कमजोर करार दिया है - "मगर यह शैली की कमजोरी है न? सिनेरियो लेखन और कागज़ पर फिल्म बनाने की कतर-ब्योंत में अगर रेणु जी न पड़े होते तो सचमुच कितनी सुन्दर चीज़ हो जाती यह .. तब शायद इस शिकायत का भी मौका न आता कि कैमरे का व्यू-फाइंडर कथा-कलक्टर भवेशनाथ की आँख नहीं, फणीश्वरनाथ "रेणु" की अपनी आँख है, असली आँख है ।"[2]

भीष्म सहानी का उपन्यास "तमस" विभाजन की त्रासदी को उजागर करने ~~ला~~ वाला उपन्यास है । नत्थू सूअर की हत्या करता है पर वह मस्जिद कि सीढ़ियों पर जाकर फिर जिन्दा हो गया था, अपने पूरे पशुत्व और सारे प्रतिशोध के साथ । सूअर के मरने और पुन:जीवित होने की त्रासदी को उपन्यासकार ने बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया है । राजेन्द्र यादव कहते हैं कि भीष्म ने इसी सूअर के मरने की कहानी अपने उपन्यास "तमस" में कही है - यह भूलकर कि सूअर आज तक नहीं मरा और

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 141
2. - वही - पृ.सं. 142

ऐसी कौन-सी अमरौती खाकर आया है कि रक्त-बीज की तरह हर जगह और भी बड़ा होकर हमले करता है ।[1]... जब तक इस धरती पर विभिन्न सम्प्रदाय रहेंगे तब तक "तमस" का सुअर नहीं मर सकता ।

राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक लेखन से गुजरते हुए उनका गम्भीर अध्ययन एवं सामाजिक प्रतिबद्धता प्रमाणित होती है । उन्होंने जो भी लिखा है गम्भीरता से लिखा है । "तमस" पर अपनी बात कहते हुए उन्होंने इस तथ्य को पकड़ा है कि विभाजन की याद जितनी ताजा मुस्लिम लेखन में है, उतनी हिन्दू-लेखन में नहीं हो सकती । शायद इसके पीछे खुद को जिम्मेदार मानने का अपराध बोध है । इसीलिए वे कहते हैं कि हिन्दी-लेखकों को इस पर और गहराई से सोचना चाहिए कि विभाजन जैसीघटना उनकी रचना में क्यों अपने सही रूप में नहीं आ सकी है ।

"तमस" एक योजना बद्ध उपन्यास है, इसलिए स्थितियाँ यहाँ विकसित नहीं होतीं, सिर्फ उद्घाटित होती है - कुछ-कुछ जासूसी उपन्यास की तरह।[2] राजेन्द्र यादव की धारणा है कि दंगों की वह सारी स्थिति, एक सुविचारित पूर्व-नियोजित षड्यंत्र या योजना थी -यह धारणा उपन्यास के रूप-बंध को भी एक योजना के रूप में ही निर्धारित कर देती है । शायद यही कारण है कि उपन्यास में कथा नहीं, उस मूल-नक्शे को उजागर करने वाली कथात्मक झलकियां हैं और रिचर्ड की ही तरह सारी असलियत को समझने वाले भीष्म, किसी एक स्थान, स्थिति या व्यक्ति पर न टिक कर सर्वद्रष्टा की तरह सब कुछ देखते हैं ।

ऐतिहासिक घटना को व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए भीष्म साहनी ने घटना और लेखन के बीच लम्बा अन्तराल रखा है राजेन्द्र यादव

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 167
2. - वही - पृ.सं. 162

मानते हैं कि इस दूरी ने सम्पूर्ण को देखने की दृष्टि जरूर दी है, लेकिन कथा वस्तु और लेखन के बीच एक ऐसी तटस्थता भी दे दी है कि चीज़ें अक्सर सपाट और सामान्य हो गयी हैं । यानी अनुभव के वे खुरदुरे कोने और अनगढ़ किनारे जो उसे अद्वितीयता देते हैं - घटना और अनुभव की दूरी में प्रायः निराकार अमूर्त {एब्स्ट्रैक्ट} होते चले जाते हैं और उसे सामान्यता दे देते हैं । विराट होने के साथ-साथ, विभाजन की वह सारी घटना वर्तमान इतिहास का एक अनिवार्य हिस्सा है, यह अहसास ही उपन्यास के योजनाबद्ध होने के लिए जिम्मेदार है । उनका मानना है कि कोई भी रचनाकार इतिहास नहीं लिखता लिख ही नहीं सकता ... चाहे फिर वह कितनी ही नाटकीय घटनाओं और मानवीय त्रासदी का ज्वलंत दस्तावेज़ क्यों न हो । वह अपनी चेतना और सामयिक दबावों का "वर्तमान" लिखता है .... इतिहास का इस्तेमाल करते हुए । इसलिए वह अक्सर इतिहास को रूपक या प्रतीक कथा बना डालता है।[1] भीष्म साहनी ने भी ऐसा ही किया है ।

तमस विशेष घटना की बड़ी तस्वीर है । बहुत बड़ी तस्वीर की बात करते ही ध्यान "झूठा सच" की तरफ जाता है । राजेन्द्र यादव कहते हैं कि वैसे भी "तमस" और "झूठा सच" की तुलना न हो, यह असंभव है । तमाम पत्रकारिता के आरोपों के बावजूद "झूठा सच" सचमुच एक बड़ी तस्वीर है - एक "एपिक" परिकल्पना । "तमस" जैसा सुगठित चाहे न हो, लेकिन अव्यवस्थित "झूठा-सच" भी नहीं ।[2] उनकी व्यक्तिगत धारणा है कि "तमस" के सबसे अधिक स्मरणीय और प्रभावशाली अंश वे ही हैं, जिन्हें भीष्म ने खुद देखा या सुना नहीं है, बल्कि लेखन के दौरान अपनी सम्पूर्ण लेखकीय जागरूकता और क्षमता से जिनका रचनात्मक - आविष्कार किया है ।[3] भीष्म

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 163
2. - वही - पृ.सं. 164
3. - वही - पृ.सं. 164

साहनी ने बहुत सी घटनाओं और चरित्रों को बेहद मनोवैज्ञानिक गहराई से पकड़ा है । "तमस" के बारे में राजेन्द्र यादव की मान्यता है कि कुल मिलाकर महान् रचना की सारी संभावनाओं के बावजूद "तमस" एक बहुत सुथरा और अच्छा उपन्यास बनकर रह गया है वे आगे राय देते हैं कि कार्य कारण साथ-साथ देने का प्रेमचन्दीय शिल्प अगर उन्होंने (भीष्म) न अपनाया होता और "आज सारी स्थिति का षड्यंत्र हमारे सामने बहुत साफ़ है, इतना मुखर आभास न दिया होता तो शायद ज्यादा अच्छा था ।[1]

राजेन्द्र यादव ने और भी अनेक उपन्यासों पर अपने समीक्षात्मक लेख लिखे हैं । परन्तु यहाँ पर अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण समीक्षात्मक निबन्धों पर ही विचार किया गया है । उन्होंने उपन्यासों की आलोचना करते हुए नीर-क्षीर न्याय का परिचय दिया है, अच्छाई को देखा और बुराई को बतलाया हैं । उन्होंने गुटबाजी से दूर रहकर आलोचना का बेलाग तरीका अपनाया है । वे केवल आलोचना के लिए आलोचना नहीं करते बल्कि आलोचना के महत्व और गम्भीरता को समझते हैं । उन्होंने जब देखा कि उनके उपन्यासों को आलोचक तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे हैं । और उपन्यासकारों द्वारा अपने उपन्यास पर लिखने की परम्परा भी चल पड़ी थी, तो उन्होंने अपने उपन्यासों पर भी विचार किया । "शह और मात" मेरा अपना दृष्टिकोण" शीर्षक से वे लिखते है कि "शह और मात" मेरी समझ में, उदय की, और केवल उदय की, मानसिक उलझन की कहानी है । न वह अपर्णा की है, न सुजाता की । सच पूछा जाय तो उसमें दूसरा कोई आता ही नहीं । बाकी सब निमित्त -भर हैं ।[2] उपन्यास सिर्फ पात्रों के बाह्य-चित्रण और गति-विधियों का लेखा-जोखा

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 167
2. - वही - पृ.सं. 197

और परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर "ट्रेजेडी" या "कामेडी" ही नहीं होती अपने पार भी कुछ कहती है । अपने पार को पकड़ पाना ही कठिन है । राजेन्द्र यादव ने "शह और मात" के लिए जितनी मेहनत की उतनी न तो "उखड़े हुए लोग" के लिए की न कुलटा के लिए ही । एक गलती वे स्वीकार करते हैं परन्तु स्पष्टीकरण भी देते हैं कि हाँ, डायरी एक प्रबुद्ध लेखिका की थी - इसलिए कहीं-कहीं बहुत लम्बी हो गयी है - नर्स की होती तब शायद वह एक पन्ने में एक दिन में ही बात लिखती ।[1]

"एक अंतरंग सारा आकाश" शीर्षक में उन्होंने केवल बासु चटर्जी से हुई बात-चीत का ही ब्यौरा दिया है । उपन्यास समर और प्रभा की जीवन की सच्ची कहानी है । उपन्यास को लेकर बासु चटर्जी की एक व्यक्तिगत दिक्कत यह थी कि वे अपने आपको इस बात के लिए कन्विंस नहीं कर पा रहे थे कि नव-विवाहित पति-पत्नी दोनों एक साथ, एक ही कमरे में रहें और आपस में बिल्कुल न बोलें । नौ साल तक बात न करने को प्रमाणित करने के लिए यादव जी और बासु दा नायिका प्रभाजी से मिले । प्रभा जी ने उन्हें बताया कि - "न मानें, जो हमारे साथ हुआ, उसे हमसे ज़्यादा कौन जानेगा ?" वे भी उन्हीं पुरानी गलियों और सींखचेदार खिड़कियों में पहुंच गयी थीं, "हम खाना दे देते थे, बिस्तर कर देते, कपड़े धो देते, कमरा साफ़ कर देते, पर बोलता कोई नहीं था । ये सारे दिन कालेज रहते, ट्यूशनों पर जाते- सुबह के निकले रात को लौटते ।"[2] इसी तरह नौ साल गुजर गए और पति-पत्नी में बातचीत नहीं हुई । राजेन्द्र यादव कहते हैं कि - न बोलने का कारण किसी घटना या बात में नहीं,

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 200
2. - वही - पृ.सं. 204

इतिहास और संस्कारों में हैं । "सारा आकाश" उपन्यास की प्रासंगिकता उस समय तक बनी रहेगी जब तक सामाजिक संस्कार, रूढ़िया और शादी के प्रति सामाजिक सोच नहीं बदलती । युवकों को अपना जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता चाहिए । जब तक विवाह युवकों पर थोपा जाएगा। "समर" और "प्रभा" के बीच की दूरी बनी रहेगी । राजेन्द्र यादव की धारणा है कि - जब तक विवाह कराने की डोर माँ-बाप के हाथों में है, "सारा आकाश" की सचाई ज़िंदा है । लड़के-लड़कियों को आपस में एक दूसरे को समझने की यातनाओं से गुजरना ही है, एडजस्टमेंट की तकलीफें बर्दाश्त करनी ही है ।[1] इसीलिए बासु चटर्जी और राजेन्द्र यादव इस नतीजे पर आ गये थे कि "सारा आकाश" की ट्रेजडी किसी सन् समय या व्यक्ति-विशेष की ट्रेजडी नहीं, खुद चुनाव न कर सकने की, दो अपरिचित व्यक्तियों को एक स्थिति में झोंक कर भाग्य को सराहने या कोसने की ट्रेजडी है ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव ने जहाँ एक ओर उपन्यास विधा पर तात्विक दृष्टि से विचारते हुए कई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की है वहीं दूसरी ओर उन्होंने उपन्यासों की व्यवहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है । उपन्यास विषयक देशी-विदेशी विद्वानों के मंतव्यों से हिन्दी आलोचना को परिचित कराने के साथ-साथ उन्होंने नये से नये दीर्घकाय उपन्यासों पर भी लिखने का जोखिम उठाया है ।

- -

1. अठारह उपन्यास - पृ.सं. 205

द्वि ती य अ ध्या य

"नयी कहानी" आन्दोलन और आलोचक राजेन्द्र यादव

द्वितीय अध्याय

"नयी कहानी" आन्दोलन और आलोचक राजेन्द्र यादव

जीवन के किसी किस्से या घटना को सुनाना या लिखना कहानी कहलाती है । यह घटना सामाजिक, राजनीतिक या निजी भी हो सकती है । उपरोक्त तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहानी का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ जुड़ा है । कहानी उतनी ही पुरानी है जितना की मानव । सृष्टि के प्रारम्भ में जब एक सुनाने वाले को दूसरा सुनने वाला मिला, तभी शायद कहानी ने जन्म लिया । आखिर अपनी अपूर्ण परिभाषा में कहानी है

ही क्या ? किसी घटना का वर्णन-मात्र । - मनुष्य के जीवन में जब भी पहली घटना घटी, सुनाने के लिए जब भी उसके पास कुछ हुआ, सुनने के लिए जब भी उसे कोई मिला, तभी कहानी ने जन्म लिया ।

हिन्दी में कहानी की सबसे पहली पुस्तकें अपने अत्यन्त अपरिपक्व रूप में वैष्णवकाल, अर्थात् 16वीं शताब्दी में गोकुलनाथकृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" तथा "दो सौ बावन की वार्ता" के नाम से मिलती हैं । इनके बाद संवत् 1680 (विक्रमीय) में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" रची, जिसका आधार एक ऐतिहासिक घटना थी । इसके बाद 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक गद्य में कोई पुस्तक नहीं मिलती । व्यवस्थित, सार्थक, रोचक एवं सफल कहानी की शुरूआत 19वीं शताब्दी से हुई । प्राय: हिन्दी कहानी का जन्म द्विवेदी युग (1900) में प्रकाशित "सरस्वती" पत्रिका के साथ माना जाता है । आधुनिक हिन्दी कहानी का आरम्भ चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की "उसने कहा था" से माना जाता है । कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद का नाम अग्रणीय है । सारे विवादों के बावजूद व्यक्ति को केन्द्र में रखकर लिखी जाने वाली कहानियों का उद्भव प्रसाद और समाज के व्यापक हितों को दृष्टि में लिखी जानेवाली कहानियों का उद्भव स्त्रोत प्रेमचंद से स्वीकार किया जाता है ।

कहानी एक विकासमान धारा है । समय और युग की मानसिकता के साथ-साथ उसके बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला गया है । परन्तु कुछ लोग इस परिवर्तन को देखकर भी स्वीकार नहीं करते, ऐसे लोग कहानी को अभी तक छ: शास्त्रीय तत्वों और प्रारम्भ, विकास, द्वन्द्व क्लाइमैक्स और परिणति में फैला एक साहित्य प्रकार भर मानते हैं, जबकि कहानी इन बन्धनों से बहुत पहले निकल आयी है । कहानी की शुरूआत और अन्त की बाध्यता समाप्त हो गयी है । इसी विकास या परिवर्तन को केन्द्र में रखकर विद्वानों ने कहानी को अनेक नामों से अलंकृत किया है । आधुनिक कहानी,

अकहानी, बोल्ड कहानी, नयी कहानी, समकालीन कहानी आदि । कहानी के इसी बदलाव के कारण यह, आज भी पाठकों के बीच लोकप्रिय एवं प्रासंगिक है, चूंकि परिवर्तन ही विकास है और विकास में नवीनता होती है । साहित्य समाज का कोणीय दर्पण है, इसीलिए समाज में बदलाव के साथ-साथ कहानी में बदलाव जरूरी है । कहानी के माध्यम से तत्कालीन समाज के विचारों को जाना जा सकता है । आज कहानी ही जीवन को अधिक सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करती है ।

प्राय: यह माना जाता है कि हिन्दी में कथा - समीक्षा का अभाव है । परन्तु अब इस धारणा को बदलना ही होगा । कथा समीक्षकों की भी अपनी एक बड़ी बिरादरी है । - विजयमोहन सिंह, नामवर सिंह, मधुरेश, सुरेन्द्र चौधरी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव आदि अनेक कथा-समीक्षकों का लेखन सराहनीय है । उन्होंने कथा-समीक्षा के नये औजारों का आविष्कार किया है तथा भारतीय दृष्टिकोण से बातों को समझने - समझाने का प्रयास किया है ।

राजेन्द्र यादव ने "नयी कहानी" आन्दोलन के लेखकों और कथा-समीक्षकों के बीच अपनी पहचान बनायी है । वे उन प्रमुख कथाकारों में हैं जिन्होंने "नयी कहानी" को प्रेमचंद परम्परा की कहानी से मुक्त किया था । उन्होंने कहानी लेखन के साथ-साथ कहानी पर, विशेषकर "नयी कहानी" पर अपनी मौलिक स्थापनाएँ दी हैं । वे "नयी कहानी" के प्रमुख आंदोलन या प्रवर्तक रहे हैं । उन्होंने कहानी विधा के संबंध में आलोचनात्मक रूप में पर्याप्त विचार किया है । कहानी विधा पर लिखते हुए उन्होंने विशेषकर "नयी कहानी" पर अधिक मौलिकता एवं गम्भीरता से लिखा है । उन्होंने अनेक स्थलों पर नई कहानी परिभाषा सूत्रों की चर्चा की है । यह एक विचित्र स्थिति है कि

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में कहानी को वे -"दूसरे दर्जे की विधा" मानते थे। उन्होंने "सुधा" पत्रिका के संपादकीय विभाग के नानाजी को एक पत्र में लिखा था - "जब कोई उपन्यास लिख सकता है, तो कहानी क्यों लिखे ? ... कहानी दूसरे दर्जे की विधा है।"[1] बाद में उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ, क्योंकि आज वे स्वयं कथा आलोचक एवं सफल कहानीकार के रूप में साहित्य क्षेत्र में सम्मानित हैं।

राजेन्द्र यादव किसी भी विधा को नामों में विभाजित करने के पक्ष में नहीं है। शुद्ध कहानी की खोज के सम्बन्ध में भी उन्होंने विचार किया है। "शुद्ध कहानी" की खोज में हिन्दी में, प्रेमचंद से भी अधिक वे जैनेन्द्र, अमरकान्त और रामकुमार किसी हद तक अश्क-यशपाल को (अंग्रेजी में हेमिंग्वे को) देखते हैं जिन्होंने अभिव्यक्ति के स्तर पर हर प्रसंगान्तर को अस्वीकारने की कोशिश की है। चंडी प्रसाद "हृदयेश", प्रसाद, अज्ञेय, निर्मल वर्मा और प्रारम्भिक कमलेश्वर, रमेश बक्षी की भाषा-विषयक अतिरिक्त चेतना, रूमानी और मधुर वातावरण चाहे जितना पैदा कर दे, लेकिन कहानी की प्रकृति और रस बोध के लिए उतनी ही असुविधाजनक है जितनी आस्कर वाइल्ड की स्मार्ट चुस्त-दुरूस्त - वाक्यों भरी भाषा।"[2] उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रेमचंद का विरोध किया है परन्तु फिर भी उन्हें ही श्रेष्ठ कहानीकार भी स्वीकारा है।

आज की कहानी के बारे में राजेन्द्र यादव की मान्यता है कि आज की कहानी की दिशा एक ही वास्तविकता के पीछे छिपे युग-बोध के अनेक स्तरों की संगति में अर्थ खोजने की है। इसके लिए वास्तविकता की प्रामाणिकता और युग-बोध की आत्मीयता दोनों ही लेखकीय अपेक्षा की अनिवार्यताएँ है।"[3]

- -

1. औरों के बहाने - पृ.सं. 140
2. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 50
3. - वही - पृ.सं. 54

सन् 1950-60 के बीच में "नई कहानी" की धारा प्रारंभ हुई । दुष्यंत कुमार ने इसे "नईकहानी" के नाम से अभिहित किया और नामवर सिंह की मान्यता प्राप्त होने के बाद से यह नाम सर्वप्रचलित हो गया । "नई कहानी" का नामकरण कहानी की धारा में आए हुए नये मोड़ का सूचक है । नयी कहानी का जन्म अचानक नहीं हुआ । इसे अपनी पहचान बनाने में बहुत समय लगा । इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "यथार्थ के प्रति यह दृष्टि नये कथाकार के पास इलहाम की तरह नहीं उतरी - उसे इसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है, निहायत ऊबड़-खाबड़ धरती से गुजरना पड़ा है और न जाने कितने बाहरी-भीतरी प्रभावों, रूढ़ियों, परम्पराओं के संस्कारों से जूझना पड़ा है ।"[1] इस संघर्ष को नये कहानीकारों के रचना-क्रम में क्रमशः खोजकर रेखांकित किया जा सकता है । उन्होंने कहानी को अत्यंत प्राचीन विधा माना है । कहानी 'स्वरूप और संवेदना' पुस्तक में उन्होंने इसे "आदि विधा" कहा है । उनकी मान्यता है कि लेखन के अभाव में पद्य को याद रखना सरल है, इसलिए हर साहित्य के प्रारम्भ में पद्यात्मक कहानियाँ है या उनके भावपूर्ण स्थलों पर गीत रचनाएँ मिलती हैं ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कहानी साहित्य में छठे दशक के अंदर नई कहानी का आरंभ हुआ । इससे पूर्व कहानी - साहित्य में दो धाराएं प्रवाहित हो रही थीं । इससे पूर्व नयी कहानी का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात नहीं थी । प्रेमचंद की "कफन" जैसी कुछ-एक कहानियों को दृष्टि में रखकर अश्क ने कहा है कि नई कहानी का प्रारंभ प्रेमचंद से मानना चाहिए।[2] किंतु इतना निश्चित है कि नयी कहानी की अटूट धारा छठे दशक की वस्तु है ।

- -

1. एक दुनियाँ समानान्तर - पृ.सं. 28
2. कहानी के इर्द-गिर्द - पृ.सं. 53

राजेन्द्र यादव ने इसे सम्बन्धों के टूटने की कहानी कहा है - "इस कथा-काल की सारी कहानियाँ नये सम्बन्धों के बनने की कहानियाँ नहीं, सम्बन्धों के टूटने की कहानियाँ हैं, सारे सम्बन्धों से टूटा हुआ व्यक्ति अधिक से अधिक अकेला, अजनबी, होता चला जाता है, पिछली पीढ़ी के प्रति अविश्वास, घृणा और आपस में अपरिचय, अनिश्चय .. यही यथार्थ नयी - कहानी के माध्यम से बार-बार सामने आता है ...[1] इस काल के लेखकों ने कथानक का बहिष्कार कर दिया । घटना पर निर्भर स्थूल एवं मनोरंजक किस्सागोई का महत्व समाप्त हो गया । घटना का महत्व समाप्त होते ही कहानी के आदि, मध्य और अंत की सुनिश्चित योजना भी समाप्त हो गई । मनोरंजन के लिए अच्छी शुरूआत को आधा काम समझकर उसे चमत्कारपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई परन्तु कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित होती है । इसी प्रकार "अन्त भला सो भला" की दृष्टि से अंत में आकस्मिकतापूर्ण झटका देने की प्रवृत्ति लुप्त हो गई । "नई कहानी" में अगर आकस्मिकता या झटके की स्थिति आती भीहै, तो वह उसकी मनोरंजन की पूर्ति की दृष्टि से नहीं आती । आज मनोरंजक किस्सागोई को कहानी के लिए बाधक ही समझा जाता है । आज की कहानी जीवन का प्रमाणिक अनुभव है ।

पुरानी कहानी के समान "नई कहानी" में जीवन का आरोपित अनुभव नहीं है । जिस प्रकार प्लाॅट के बहिष्कार की दृष्टि से राजेन्द्र यादव ने चेखव की प्रशंसा की है, उसी प्रकार उन्होंने आरोपित विचार एवं अनुभवों की दृष्टि से प्रेमचंद की आलोचना भी की है । उन्होंने कहा है कि चेखव ने

- -

1. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 3।

"कहानी से प्लाट का पूर्ण बहिष्कार करके उन्हें संस्मरण और रेखाचित्रों जैसी मंथर गति दी, कविताओं जैसी मुड़सृजन क्षमता दी और दिया उपन्यासों जैसा खुलाव ।[1] अब तो "कहानी का न कोई अन्त होता है, न प्रारंभ ... वह जीवन की एक फांक है ।"[2] कहानी अब जीवन का एक स्पंदित खंड है । उन्होंने प्रेमचंद की कहानियों की आलोचना करते हुए लिखा है - "वे समस्याएँ और उनके समाधान ही लिखते हैं, कहानी नहीं ।"[3] उनके पास व्यक्ति की यातना नहीं, सामाजिक इकाइयों के द्वंद और समस्याएँ है ।[4] जीवन की "अनभोगी" सार्वभौमिक समस्याएँ का यादव ने खण्डन किया है "एंटरटेनर" की भूमिका को तो अस्वीकार किया ही है, किन्तु "सूर्यधर्मा" उपदेशक की भूमिका को भी अमान्य किया"[5] समस्याओं के माध्यम से व्यक्ति का चित्रण उन्हें नामंजूर है । व्यक्ति के माध्यम से ही समस्या को देखना सही देखना है।[6]

अब कहानी लेखक और पाठक के बीच में अनुभव से अनुभव तक की यात्रा" है । अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में राजेन्द्र यादव जिस कहानी को "दूसरे दर्जे" की विधा मानते थे, उसे ही अब वे जीवन को चित्रित करने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं । उन्होंने लिखा है - "साहित्य की जो विधाएं जीवन का निकटतम और अविकृत रूप प्रस्तुत कर पाती हैं - उनमें पहला नाम कथा-साहित्य का ही है ।[7] कथा साहित्य में जीवन के चित्रण के विकास को दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा है कि पहले यथार्थ निर्मित किया

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 18
2. - वही - पृ.सं. 26
3. औरों के बहाने - पृ.सं. 112
4. - वही - पृ.सं. 118
5. - वही - पृ.सं. 143
6. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 109
7. -वही- पृ.सं. 124

जाता था, फिर खोजा जाने लगा, आज भोगा जाता है ।[1] कहानी अब चेखव के कथनानुसार "जीवन की एक फाँक" है । उसमें दिशा नहीं, दशा का संकेत होता है । "सामाजिक विशाल से एक संवेदनशील व्यक्ति और समय के प्रवाह से एक अनुभूति का क्षण चुनकर उन दोनों के सार्थक संबंध को खोज निकालना आज की कहानी की प्रमुख विशेषता है ।"[2] वे आगे लिखते है कि कहानी हमेशा ही किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य के मन और अनुभवों, यानी मनोविज्ञान को समझने-सम्प्रेषित करने का एक प्रयत्न है: उसे बनाने - बदलनेवाले तत्वों और उसके द्वारा बनायी-बदली गयी स्थितियों के जीवन-खण्डों का अध्ययन है, इन बनती और बनाती स्थितियों को दिशा और काल में अर्थात् विस्तार और गहराई की संश्लिष्टता के साथ पकड़ने का एक कलात्मक विधान । न तो यह प्रयत्न इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र की तरह लम्बवत् - वर्टीकल - है कि उसके परिवेश का ही पता न चले, उन स्थितियों का कोई हवाला ही न हो जो उसका कारण और कार्य रही हैं, और न अमृतराय और कृश्नचन्दर की तरह विस्तारगत - हॉरिजैण्टल - है कि परिवेश ही मनुष्य के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर दे । कहानी न "मैं" की व्यक्तिगत डायरी है, और न परिस्थिति की निर्वैयक्तिक रिपोर्टिंग । आज की कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह सम्बन्ध क्षण है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नब्ज़ छूता है ...उसे नाम देने, समझने की कोशिश करता है । अर्थात् रिपोर्ताज और डायरी के पीछे की यथार्थ-दृष्टि उसकी चेतना बना सकती है, स्वयं कहानी का विषय नहीं हो सकती ।[3]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 162
2. - वही - पृ.सं. 88
3. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 29

कुछ लोगों के मन में यह हमेशा रहा है कि कहानी पर गम्भीरता से चर्चा की आवश्यकता ही नहीं है । उनकी नजर में कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गंभीर समीक्षा का विषय बनाया जाये । परन्तु राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, नामवरसिंह और देवीशंकर अवस्थी आदि आलोचकों ने कहानी पर गंभीर समीक्षा की आवश्यकता को महसूस किया था ।

राजेन्द्र यादव ने आलोचकों की समस्याओं या आलोचक की निगाहों से कथा-समीक्षा नहीं की, बल्कि एक सामान्य पाठक की समझ को ध्यान में रखकर लिखा है । उनका मानना है कि कहानी की समग्रता को जानकर ही कहानी को समझा जा सकता है । नामों और स्थानों की विस्तृतियों में जाने की चिन्ता किए बिना कहानी की मूलभूत रूपरेखा और प्रवृत्तियों की खोज और विवेचना ही उनका लक्ष्य रहा है और निष्पक्ष और तटस्थ रहने का भरसक प्रयास भी किया है। आज की कहानी का प्रारम्भ केवल पचास साल पुराना है इसलिए पुरानी मानसिकता से अलग हटकर सोचने की आवश्यकता है ।

जब चेतना - प्रवाह शैली में मन के भीतर के सूक्ष्म रिपोर्ताज और मार्क्सवादी दृष्टि से व्यक्ति के बाहर के रिपोर्ताज लिखने वालों ने कहानी की हर मर्यादा टेकनीक को तोड़ दिया तो एक वर्ग अतीतोन्मुख मन के स्तर प्रस्तरों का महीन-बेबाक विवरण दे रहा था तो दूसरा समाज के भविष्योन्मुख संस्मरण । व्यक्ति या लेखन दोनों ही, अतीत और भविष्य की यात्रा के प्रारम्भ बिन्दु रह गए थे - अपने-आप में अनुपस्थित नगण्य । विचार के स्थान पर या तो अपने में ही रस लेने की प्रवृत्ति थी या अपने से बाहर कुछ कर गुजरने का आवेश । लेखक या तो अपनी व्यक्तित्व सुरक्षा के लिए परेशान "नदी का द्वीप" था या व्यक्तित्व के हर किनारे-कगोर को ढहाता उद्दाम प्रवाह- और यह सारी आकुलता, कला और शिल्प में नए-नए प्रयोग करने या

कला-साहित्य के आधार, समाज को बदलने के प्रयत्न में अभिव्यक्ति पा रही थी । यही वह समय भी था जब कला के सारे रूप प्रगतिशील विचारधारा से अनुप्राणित होकर पहली बार आपस में निकट आ रहे थे - नाटककार, चित्रकार, संगीतकार, लेखक सभी अपने को एक ही उद्देश्य से बंधा पाते थे, एक-दूसरे की रचनाओं से प्रेरणा लेते थे । पिकासो की रचना शान्ति कपोत सारी कलाओं का अपना चिह्न था ।

लेकिन उस सब में कहीं कुछ ऐसा था जो अपना नहीं था, आरोपित था, उधार लिया हुआ था और जिसे अन्तर्राष्ट्रीय के नाम पर हमने स्वीकार कर लिया था । इधर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां कुछ ऐसी तेजी से बदल रही थी कि यह सारा "आरोपित" फालतू जैसा दीखने लगा था और 1950-52 से जिस ज्वार का उतरना प्रारंभ हुआ तो आज तक वह उतरता ही चला गया । स्टालिन के बाद रूस के भीतरी परिवर्तन, रूस और चीन का आपसी तनाव चीन का भारत के प्रति रवैया, इन सबने प्रगतिशीलता की उन जड़ों को हिला दिया जिन पर हमारी आस्था की बेल पनपी थी ।

नई-नई प्रतिभाओं के उदय के सामने, पुरानों में उस समय केवल दो प्रकाश-स्तंभ अपनी जगह खडे थे ... प्रयोगवादी अज्ञेय और प्रगतिवादी यशपाल ।

राजेन्द्र यादव का विचार है कि यहीं से उस कहानी का मोड़ प्रारम्भ होता है कि जिसे हम आज "नयी कहानी" कहते हैं ।

"नई कविता" "नई कहानी" से पहले स्थापित हुई, इस तथ्य को राजेन्द्र यादव मानने को तैयार नहीं है । वे स्वयं लिखते हैं कि - "यों अपने को पहला कहने के आवेश में यह कहना बड़ा आत्म-संतोष देता है कि "नई कविता" की नकल पर नई कहानी का नाम पड़ा है । "नई कविता" "नई कहानी" से पहले साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में स्थापित हो चुकी थी, इसमें उन्हें आज भी संदेह है ।[2]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 42-43
2. - वही - पृ.सं. 43

"नयी कहानी" का विरोध उन्हीं लोगों ने ज्यादा किया जो अपने को नयी कविता का जन्म दाता मानते थे। परन्तु आज "नई कहानी" को ही सबसे अधिक समर्थ रचनात्मक विधा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। वस्तुतः उसके पीछे किसी सुनिश्चित दर्शन या सिद्धान्त की अपेक्षा बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप एक दृष्टि की तलाश ही अधिक थी - इसलिए साहित्य की यह प्रवृत्ति अपने को नित्य नया बनाते जाने की प्रक्रिया के रूप में ही अधिक आयी और जब तक भारतीय समाज में स्वतन्त्रता प्राप्ति जैसा कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक यह प्रक्रिया निर्बाध रूप में चलेगी।[1]

"नयी कहानी" को परिभाषाओं के माध्यम से समझना कठिन है परिभाषाओं से साहित्य को समझने वालों के लिए यह सचमुच ही एक दुरूह और विकट स्थिति है। चूंकि नई कहानी परिवेश के माध्यम से व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से परिवेश को पाने की एक प्रक्रिया है और कथाकार ने इस प्रक्रिया को अपने ढंग से ग्रहण किया है। राजेन्द्र यादव का मानना है कि वस्तुतः नई कहानी आज के जीवन, जिसे आधुनिकता, समकालीनता कुछ भी कह लीजिए, को जीने, उसे विभिन्न स्तरों पर समझने, उसके अर्थ तलाश करने, सार्थकता - निरर्थकता खोजने की कहानी है। .... उपन्यास इधर अपेक्षाकृत अपेक्षित विधा रही है और शायद कविता अपूर्ण। नई कहानी को यह गर्व है कि पहली बार भाषा और प्रान्त की ओछी सरहदों से उठकर भारतीय कहानी खोज निकालने का रचनात्मक प्रयत्न किया जा रहा है। राजेन्द्र यादव का मानना है कि-व्यक्तिगत और अनुभूत सत्य की समस्त प्रमाणिकता की रक्षा करते हुए भी समय के बड़े सत्य और परिवेश की बड़ी प्रमाणिकताओं को ध्वनित कर सकना नई कहानी की सबसे बड़ी विशेषता मानी जा सकती है, और इसके लिए नई कहानी ने रूप सम्बन्धी सारी परिकल्पना को अपने ढंग से बदल दिया है।[2]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 46
2. - वही - पृ.सं. 54

उनका मानना है कि नई कहानी इससे अलग नहीं हुई । क्रमशः उसकी भूमि बदलती गई यही वह प्रक्रिया है जो आज तक जारी है और यही नई कहानी का प्राण है ।

घटनाश्रयी कहानियों के कथानकों को तो जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय ने ही छोड़ दिया था और उनकी जगह व्यक्तित्व और घटना की समानान्तर स्थिति को केन्द्र बनाया था, इसलिए अकारण होने वाले संयोगों और ऐक्सीडेंट वाली भाग्यवादिता की कहानियाँ पुरानी पड़ गई थीं, स्थितियों की ऐब्सर्डिटी या बेतुकापन बताने के लिए कहीं-कहीं अस्तित्वादियों ने जरूर उन ऐक्सीडेन्टों का सहारा लिया । यादव लिखते हैं कि नई कहानी ने सबसे पहले घटना, देश काल, पात्रों की इस सीमाहीन छूट का विरोध किया उनका मानना है कि यह छूट न तो कहानी को प्रमाणिक रहने देती थी, न विश्वसनीय । पात्र और परिवेश सभी कुछ अपना और परिचित होना चाहिए - क्योंकि आज वही सबसे अधिक प्रमाणिक है । उसमें रहकर, उसकी बदलती सापेक्षताओं में ही हम किसी संवेदना और अनुभूति को, विचार या आइडिया और दृष्टि का रूप देंगे, पहले से आइडिया लेकर उसे किसी भी देश-काल-पात्र पर आरोपित कर देना दुहरा झूठ है । विचार के अनुसार अनुभव और घटनाएँ तलाश कर लेना, एक उधार का जामा ओढ लेने जैसा है, क्योंकि वह ली हुई स्थापना और विचार अपने ही जीवन से उद्भूत नहीं होते । स्वानुभूति की प्रमाणिकता से गुजर कर अगर हम किसी विचार, अर्थ, दृष्टि या दर्शन तक पहुँचते हैं तो वह हमारी अपनी उपलब्धि होती है । यही कारण है कि आज की कहानी में एक भी ऐतिहासिक या अनजिए विदेश की कहानी नहीं हैं, प्रायः वे स्थितियाँ भी नहीं है जो लेखकीय परिवेश का अंग नहीं बन पायी ।[1]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 56

प्रगतिवादी कहानियों के नायक कुछ महत्वपूर्ण और महान करते हुए दीखते थे । व्यक्तिवादी कहानियों के नायक केवल यह बताकर ही संतोष कर लेते थे कि उन्होंने कभी कुछ महान और "क्रान्तिकारी" किया है और इसलिए उन्हें किसी की पत्नी या प्रेमिका से अपनी थकान मिटाने का अधिकार मिलना चाहिए । दोनों प्रकार के पात्रों और उनकी स्थितियों की मानसिकताएँ पहले से निर्धारित थीं - परिस्थितियाँ केवल निर्मित या निमित । नये कहानीकारों को न तो यह हीरो पसंद था, न स्थितियों को लाने का यह ढंग । इसमें उसे सचाई और ईमानदारी नहीं, बनावट और प्रिटेन्शन्स अधिक लगते थे । मूलत: यह सभी कुछ बड़ा भाववादी और रोमांटिक, अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति, अत: अप्रमाणिक था । राजेन्द्र यादव की राय है कि इन्हीं अप्रमाणिकताओं के विरोध, तथा अनुभूति, व्यक्ति और परिवेश की अपनी और इनके आपसी संबंधों की प्रमाणिकता की खोज से ही "नई कहानी" का स्वरूप निर्धारित होना प्रारम्भ हुआ था । नई कहानी का व्यक्ति, जैनेन्द्र- अज्ञेय से अधिक सामाजिक सक्रिय, तटस्थ और प्रवृत्तिवादी कहानियों से अधिक अपने व्यक्तित्व वाला मनुष्य है । उन्होंने इसे कहीं वैयक्तिक सामाजिकता" या "सामाजिक वैयक्तिकता" का उदय" कहा है ।"[1]

राजेन्द्र यादव का मानना है कि कालान्तर में जो जैसा है उसे वैसा ही यानी यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार कर लेने की ईमानदारी और बाकी हर चीज़ को अस्वीकार कर देने का आग्रह-नई कहानी में ये ही दो दृष्टियाँ उभरने लगी ।"[2]

बदलती स्थितियों के इस नये परिप्रेक्ष्य में बाप-बेटे, भाई-बहन, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, मित्र-मित्र यानी सब मिलाकर परिवार और

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 57-58
2. - वही - पृ.सं. 59

परिवेश के सम्बन्धों के नाम भले ही वही रहे हों, लेकिन उनके भीतर वही नहीं रह गया था जो रूढ़ अर्थों में हुआ करता था। इस नई स्थिति और वास्तविकता, को व्यक्त कर सकने वाले नाम हमारे पास नहीं है, इसलिए सहारा तो उन्हीं नामों का लेना पड़ता है, लेकिन व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो कुछ तेज़ी से मर रहा है, बन और बदल रहा है और "नया" जन्म ले रहा है उस सबको खोजना-समझना और व्यक्त करना "नई कहानी" की एक बहुत बड़ी विशेषता है । इस सारे ताने-बाने को समझने के लिए राजेन्द्र यादव ने अपने संकलन "एक दुनिया समानान्तर" में सम्बन्धों के प्राप्य नामों के आधार पर विभाजन किये थे और कुछ उतावले समीक्षकों ने "इतने मोटे रूप में विभाजन कर देने" पर उनकी आलोचना भी की थी । लेकिन उन्होंने यह देखने की कतई कोशिश नहीं की कि विभाजन भले मोटे रूप में हुआ हो, एक-एक सम्बन्ध के बीच सूक्ष्म परिवर्तन आरहा है, जो हज़ारों अर्थ और ध्वनियाँ उभरने लगी हैं, यादव ने उन्हीं पर अधिक बल दिया था और बताया था कि नई कहानी ने सम्बन्धों के इन शेड्स और नुआन्सेज को ईमानदारी से पकड़ने की ही कोशिश की है । बाप-बेटे के सम्बन्ध को उनका मानना है कि बाप-बेटे के सम्बन्ध के नाम से ही पुकार जाए, यह एक मजबूरी है - बॉयलॉजिकल मजबूरी है और कोई भी इस सम्बन्ध के लिए दूसरा नाम नहीं दे सकता । लेकिन इस संबंध को बाप-बेटे के सपाट रिश्ते से हटाकर, बीच में उभरने वाले हजारों पहलुओं सम्बन्ध तन्तुओं के टूटने-बनने-बदलने को कहानी में ईमानदारी और साहस से पकड़ना ही नया होना है, और इस भूमिका में उनका सारा जोर इसी पर रहा है, नामों पर कतई नहीं । उनका मानना है कि नई कहानी और जीवन को पुराने सामंतवादी जहनियत से भी लड़ना पड़ता है ।"[1]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 61

राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "नई कहानी" भावुकता की नहीं, संवेदनाशीलता की कहानी है, उसका व्यक्ति सेन्टीमेंटल नहीं, सेन्सिटिव है । आज के लेखक को कहानियाँ वहाँ मिलती है जहाँ सम्बन्ध संदर्भ टूट और छूट रहे हैं, जहाँ वह उन्हें अस्वीकार कर रहा है या जहाँ इनके नये बनते हुए रूपों को टटोल रहा है - अर्थात् घटना और घटित के निर्णायक तनाव-क्षण में, घटना की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि या "सिचुएशन" की सम्पूर्णता में, जिससे होकर वह अधिक गहराई और यातना से गुजरता है .... आखिर अपनी स्थिति और नियति को भोगना और समझना, पाना और जीना तो हमें स्वयं ही होगा ... नैतिक - अनैतिक, शील-औद्धत्य सही गलत के संस्कारों से उठकर स्थिति को स्थिति की तरह स्वीकार कर लेना और बाकी सबको अस्वीकार कर देने का साहस ही आज का स्वर है.. अपनी ही दृष्टि से स्थिति को भोगना-समझना होगा और फिर बड़े यथार्थ के संदर्भ में उसका अर्थ खोजना होगा - बाकी हर रास्ता पलायन होगा । उनको आशा थी कि नई कहानी में आगे जुड़ने वाले नये नाम इस स्थिति को अधिक गहराई और साफ निगाहों से समझेंगे, अधिक-अधिक प्रौढ़ कलमें सामने आएंगी और निश्चय ही उनमें कुछ नामों से यह आशा फलवती भी हुई है । लेकिन इनमें ही कुछ अधकचरे और "टची" लोग भी रहे हैं जो अपनी जरा-सी आलोचना बर्दाश्त नहीं कर पाते । उन्हें लगता है कि उनके अस्तित्व पर ही शंका की जा रही है । राजेन्द्र यादव का मानना है कि हर आलोचना को अपने अस्तित्व के प्रश्न के साथ जोड़ना, "रिकाग्नीशन" देने-न-देने से नत्थी कर देना, आत्म-विश्वास की कमी, आत्मालोचन की अनुपस्थिति और मानसिक अवरोध या अपरिपक्वता की निशानी है । रचना से अधिक रचना की सफलता की भूख वास्तविक अन्वेषण की राह से भटका देती है । आलोचना वास्तविक, अन्वेषण

की राह में अड़चन नहीं बननी चाहिए, क्योंकि अपना-अपना स्तर ही नई कहानी की विविधता और विकासशीलता है ।[1]

"नई कहानी" पर ज्यादातर आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि नई कहानी रूप के लिहाज से अनगढ़ कथ्य के कोण से दीवालिया और शैली की दृष्टि से बचकानी है । दिलचस्प बात यह है कि ये सारे आरोप पाठकों की ओर से कम, पुराण-पुरूष कथाकारों और उनके महौल में जीने वाले आलोचकों की ओर से अधिक लगाए गए हैं । इस प्रकार के आरोप लगाकर आलोचक स्वयं को बचकाना हरकत करने वाला सिद्ध करते रहे हैं । "नई कहानी" आज पूरी तरह से स्थापित है । "नई कहानी" को बचकानी एवं ऊल - जलूल कहने वाले आलोचकों के बारे में राजेन्द्र यादव कहते हैं कि अधिकांश पुराने कथाकारों और आलोचकों को यदि आज की कहानी "ऊल-जलूल" और बोर लगती है तो इसमें अजब क्या है ? जिस कहानी में न तो गठा-गठाया प्लॉट हो, न क्लाइमैक्स की ओर अन्धाधुन्ध बढ़ती घटनाओं का तांता, न जिसमें "अब क्या होगा?" की सांस - रोक उत्सुकता हो, और जो न फिर तीस वर्ष बाद कह.कर एक ही सांस में काल के सागर फलांगती हो - ऐसी कहानी को लेकर चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और श्री शिवदान सिंह चौहान क्या करेंगें ।[1] जैसा की सर्वविदित है कि "नई कहानी" में शॉक और दिलचस्पी पैदा करने वाले मनोरंजन के पुराने फार्मूलें नहीं थे । यह "नई कहानी" का नयापन है । राजेन्द्र यादव जी ने सवाल उठाया है कि क्या पुरानों से अच्छी कहानी का सर्टिफिकेट पाये बिना आज की कहानी अपना व्यक्तित्व नहीं बना सकती ?

एक समय था जब कहानी का वर्गीकरण लेखक की जागरूकता, समझ और चेतना के अनुसार किया जाता था - राजनीतिक कहानी, सामाजिक

- -

1.कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 76

कहानी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक कहानी आदि । यह समाज के अनेक स्तरों का युग था । परन्तु नई कहानी का वर्गीकरण करना आसान नहीं होगा । राजेन्द्र यादव तो कहानी के वर्गीकरण के खिलाफ है। परन्तु फिर भी उन्हें आज की कहानी दो रूपों में बंटी दिखाई देती है - एक में मनुष्य की घुटन, पराजय, पलायन, हार, अनियंत्रित और स्वच्छंद वृत्तियों की वकालत, या मात्र चित्रण होता है, दूसरे में मानवीय स्वस्थ और शुभ के प्रति, उसकी जिजीविषा के प्रति आस्था प्रकट होती है ।[1]

नयी कहानी के पहले हमारे सामने या तो "स्ट्रीम आफ कान्शसनेस" से प्रभावित आत्मसंस्मरणात्मक कहानियाँ थी, जो प्राय: अन्त से प्रारम्भ होकर पुनरावलोकन शैली में पीछे चलती थीं, या थे समाज की गतिमयता के बीच सामने दौड़ने वाले रिपोर्ताज । नई कहानी से इस परम्परा में बदलाव आया । राजेन्द्र यादव के अनुसार-नयी कहानी ने अपने कथ्य के दबाव से कहानी के सम्पूर्ण "स्ट्रक्चर" को ही बदलने का सामूहिक और क्रमबद्ध प्रयत्न प्रारम्भ किया।

सभी विद्वानों का मानना है कि नयी कहानी एक आन्दोलन के रूप में आयी परन्तु कमलेश्वर जैसे कुछेक कहानीकार इसे आन्दोलन नहीं बल्कि नये के लिए निरन्तर प्रयत्नशील और प्रयोगशील रहने की प्रक्रिया मानते हैं । दूसरी तरफ नामवरसिंह का मानना है कि "नयी कहानी" नाम से कोई आंदोलन अभी तक नहीं चला ।[2] इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव का मानना है कि हिन्दी कहानी की सम्पूर्ण यात्रा में नयी-कहानी" पहला, और शायद साहित्यिक अर्थों में अभी तक का अन्तिम आंदोलन है ।[3] उनका कहना है कि 1975 के बाद की कहानियाँ अपने-आपको "नयी-कहानी" से जोड़ने लगी हैं, वे फिर अपना सूत्र वहीं से उठाकर आगे बढ़ती है ।[4]

- -

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 89
2. कहानी नयी कहानी - पृ.सं. 17
3. कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति - पृ.सं.46
4. - वही - पृ.सं.59

राजेन्द्र यादव के अनुसार आज के कुछ कहानीकारों द्वारा कविता के सारे उपकरण इधर कहानी में स्मगल किये जाते रहे हैं । जिस परिस्थिति में कवि को बैठकर कविता लिखनी चाहिए, उसमें वह कहानी लिख डालता है और प्रतीकों, बिम्बों, संगीत ध्वनियों, उपमाओं, कोमल शब्द-प्रयोगों का वही चमत्कार दिखाता है, जो कविता की अपनी विशेषता है । इस सूक्ष्म अन्तर को समझ न पाने के कारण ही नामवर सिंह जैसे काव्य-समीक्षक ने इन काव्य-उपकरणों को ही "नयी कहानी" का प्रमुख गुण बताया है ।[1]

"नयी कहानी" के अध्ययन से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधीनता के पश्चात् "नयी कहानी" स्थापित हो चुकी थी और इसकी मौलिकता को सभी ने स्वीकार कर लिया था । इसका एहसास पहली बार श्रीपतराय के इस कथन से होता है जब वे "कहानी : नववर्षांक" (1956) में कहते हैं कि बीच-बीच में मुझे संदेह होने लगता है कि कहीं मैं समय की गति से पीछे तो नहीं हूँ और इसी कारण मुझे हिन्दी कहानी में वह उन्नति परिलक्षित नहीं हो रही है, जिसकी आशा करनी चाहिए । यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहानी का स्वरूप बदल रहा है, और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह माँग कर रहा हूँ, जो आज इसका लक्ष्य ही नहीं है ।

"हंस" के मई 97 के संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने सवाल उठाया है कि "सचमुच, मुझे क्या हो गया है, मैं किसी भी कहानी को "शुद्ध कहानी" की तरह क्यों नहीं पढ़ पाता, क्यों मेरी दृष्टि कहानी की खूबसूरत भाषा, रूपबंध, कथन में आये बिम्बों या दूसरी तरकीबों तक ही सीमित नहीं रह पाती ? क्योंकि उसमें दुनिया भर की इधरउधर की बाते देखता हूँ ? आखिर

---

1. कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 100

होश संभालने के बाद पढ़ने के संस्कार और अभ्यास मेरे भी औरों जैसे ही रहे है । अब क्या हो गया है कि "वारेन हेस्टिंग्स का सांड" की बेहद संवेदनशील भाषा, शब्दों का रचनात्मक चुनाव, इतिहास को कथा में पिरो देने का खतरनाक कौशल, रति-प्रसंगों की सांस्कृतिक अनुगूंज, ऋतुओं के संगीत, जयदेव से लेकर विद्यापति तक की उपस्थिति, यथार्थ और फैंटसी का जादुई उपयोग, पूरी कहानी को दो चित्रों के अद्भुत विखंडन से निचोड़ लेने वाली तीसरी आंख मार्खेज, बोर्खेज, कुंडेरा जैसों को घोंट-पचाकर निकाले गए इत्र की गंध यानी कहानी से चमत्कृत होने के बावजूद कुछ दुष्ट सवाल पीछा नहीं छोड़ते कि भारतीय कृषि- समाज में गाय की पारिवारिक उपस्थिति, लाड़ और श्रद्धा की वंश-परम्परा में ही सांड को क्यों चुना गया ? सिपाही-विद्रोह में उसी गाय की चर्बी को बारूद बनाने वाली दूर की कौड़ी लाने के बहाने क्या कहना चाहते है उदय प्रकाश ? जिस तरह उन्होंने पुराने संग्रहालय की पेंटिंग का विखंडन करते हुए एक विलक्षण कहानी निकाल ली है, क्या उसी तरह उनकी इस कहानी का विखंडन हमें कुछ असुविधा जनक सवालों के सामने नहीं ला छोड़ता ? यहाँ उदय का "गौ - माता प्रेम" क्या घर-घर में पूजित और आज की राजनीति में नारे की तरह त्रिशूलित वह भगवा-दर्शन ही तो नहीं है, जो गाय के अतिशयोक्तिपूर्ण अध्यात्मक और परंपरागत अंधविश्वास में बताता है कि धरती जब नरक में धंस जाएगी, तो गौ-माता ही अपने एक सींग पर उठाकर उसकी रक्षा करेगी । कहानी में भी विचरा हुआ उन्मत्त और दुर्दांत भारतीय सांड (उसी गाय का वंशज) "हेस्टिंग्स" नाम के नरकासुर का वध करता है ।

इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव ने एक और प्रश्न यह खड़ा किया है कि "गाय" या सांड ही क्यों, कुछ भी तो भारतीय कृषि-परिवार का उतना ही अविभाज्य अंग है, वह खुद उत्पादन न करता हो, मगर उत्पादन का एक मात्र रक्षक और मनुष्य का सबसे वफादार साथी सिर्फ कुत्ता ही है, सांस्कृतिक परंपरा

में वह गाय से उन्नीस नहीं है - धर्मराज युधिष्ठिर के साथ गाय या सांड नहीं, कुत्ता ही अंतिम सीमा तक साथ रहा था - उसका डोबरमैन या ग्रेहाउंड अवतार भी हेस्टिंग्स को उसी तरह मार सकता था। मानव इतिहास का सबसे पुराना यह हमसफर अगणित संकर योनियों को पार करता हुआ आज बदले हुए घरों में भी वामन-भाव से पारिवारिक संस्कृति की सबसे प्रिय और जीवंत उपस्थिति है - उधर गाय सिर्फ पॉलिथिन की थैलियों में छपी अनुपस्थिति बनकर रह गई है। बात सिर्फ गौ प्रेम तक रहती, तब भी गनीमत थी, वह जुड़ती है खुद वारेन हेस्टिंग्स से। वारेन हेस्टिंग्स तभी तक मानवीय, संवेदनशील, कवि, भावुक, उदात्त, आध्यात्मिक यानी लगभग देव-शिशु की गरिमा में जीता है। जब तक वह भारतीय काव्य, संगीत, शृंगार और दर्शन में लीन, पोथी के साथ राधा-कृष्ण की लीलाएँ कर रहा है और सारे परिवार को बाँसुरीमय बना रहा है। इन सबसे हटकर जैसे ही वह औद्योगिक सभ्यता के शिकंजे में आता है कि राक्षस लुटेरा, घूसखोर और नृशंस बनने लगता है। तब क्या कहानी का कथ्य (संदेश) यही है कि भारतीय (यहाँ हिंदू) संस्कृति मनुष्य को संवेदनशील, श्रेष्ठतर मनुष्य ही नहीं बनाती है, वह हिंसा होकर औपनिवेशिक साम्राज्यवाद को ध्वस्त कर सकने की क्षमता भी रखती है? और क्या सचमुच आज नवीनतम संहारक टेक्नॉलॉजी से लैस साम्राज्यवाद के उपनिवेशी आक्रमणों या दूर-नियंत्रित (रिमोट - कंट्रोल परिचालित) वैचारिक, औद्योगिक, आर्थिक और इलेक्ट्रानिक "मिसाइलों" का सामना, कृषि-केंद्रित पिछड़ी सामंती संस्कृति से किया जा सकता है? मैं जानता हूँ, उदय मेरे प्रिय और हिन्दी के अत्यंत सशक्त संभावनाशील कथाकार हैं, वे बेहद सेंसिटिव भी हैं और उन्हें मेरे इन कुतर्कों या कहानी के कुत्सित (वल्गराइज्ड) पाठ विखंडन से मर्मांतिक तकलीफ होगी, क्योंकि किसी भी तरह की आलोचना उन्हें बुरी तरह अपसेट (विचलित) करदेती है।

फिर भी कहे बिना रहा नहीं जा रहा : उन्होंने एडवर्ड सईद के ओरियेंटलिज्म को इस हद तक आत्मसात् कर लिया है कि वे सईद की यह स्थापना भी स्वीकार कर लेते हैं कि नवीनतम टेक्नॉलॉजी के बल पर मचाया गया सारा साम्राज्यवादी उत्पात या पूरे विश्व को उपनिवेश बनाने का सर्वभक्षी उन्माद मूलत: क्रिश्चियन है और इसका सामना सिर्फ इस्लामिक फंडामेन्टलिज्म यानी मध्यकालीन कबीलावाद से किया जा सकता है । इराक-अमेरिका युद्ध में हमने सामरिक - धरातल पर इस फण्डामेन्टल शक्ति को मिनटों मे ध्वस्त होते नहीं देखा ? उदय ने भारतीय संदर्भों में इसका अनुवाद निर्मल वर्मा की तरह किया, हिन्दू फंडामेंटलिज्म क्रिश्चियन आधुनिकता और इसलामी पुराणपंथ दोनों ही इस हिंदुत्व के दुश्मन है । शायद किसी और कहानी के ये सब अर्थ नहीं निकलते है, मगर मैं जानता हूँ कि उदय भयंकर अध्ययनशील कथाकार है और नवीनतम साहित्य या विचार का यह आत्मसाती करण उनकी रचना के हर शब्द से बोलता है ।

कहना न होगा कि राजेन्द्र यादव की उपर्युक्त स्थापनाओं में अनेकानेक अंतर्विरोध है और उदय प्रकाश के संदर्भ में वे बहुत दूर तक पूर्वाग्रह से ग्रस्त दिखाई देते हैं । सच तो यह है कि नए रचनाकारों में संभवत: उदय ही ऐसे अकेले दिखाई पड़ते हैं, जिनकी रचनाएँ एक बार नहीं अनेक बार पढ़ जाने का दबाव और आग्रह पैदा करती है और हर बार कुछ नए अर्थों के अंतरालों पर प्रकाश डालती है । उनकी कहानियाँ, उपन्यासों के बृहत् संदर्भों के संकेतों से भरी दिखाई देती है । कहानी की हर पंक्ति में उनकी सजग उपस्थिति हर एक शब्द को अर्थवान बनाती है, रचना के भरपूर कसाव को सुनिश्चित करती है। ऐसे रचनाकार द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द, बिंब, कथन या रूपक को बहस का विषय बनाया जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, क्योंकि उदय किसी रौ में नहीं लिखते कि सिर पर लिखने का भूत सवार हुआ और एकही रात में घिस मारा, बल्कि लम्बे और कठिन प्रयत्न के साथ, विषय और देशकाल के तमाम संदर्भों को टटोल-टटोल कर पूरी बेचैनी और उतने ही इत्मीनान से लिखा करते है ।

ऐसी स्थिति में जब राजेन्द्र यादव "वारेन हेस्टिंग्स का सांड" के अनूठे संमोहक ताने बाने के मध्य से गाय वंश परंपरा के सांड़ को चुने जाने या हेस्टिंग्स चोखी प्रणय-प्रसंग के संवेदनात्मक उद्देश्य पर सवाल उठाते हुए उसे सर्वशक्ति मान विश्व साम्राज्यवाद बनाम कबिलावाद अर्थात् दीये और तूफान की लड़ाई के रोमांटिक या अनैतिहासिक आत्मवादी सोच के साथ जोड़कर देखने की पेशकश करते हैं तो एक बारगी इसमें काफी कुछ चौंकाने वाला और उकसावे का तत्व ही सबसे प्रबल दिखाई देता है । उकसावा इसलिए कहानियों में जो अंत वस्तुत: उदय प्रकाश की कहानियों के प्राकथन की तरह हुआ करते है उन्हें ही आलोचक राजेन्द्र यादव ने न जाने क्यों पूरा सार मानलिया है । सच तो यह है कि "तेपचू" से लेकर वारेन हेस्टिंग्स का सांड" तक की उदय प्रकाश की कहानियों के शिल्प में कहानी का अंत कितना ही रोमांचक प्रभावोत्पादक या आकर्षक क्यों न हो, कहानी का संवेदनात्मक उद्देश्य उस अंत तक की यात्रा के पीछे के व्यापक सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भों के विवरणों से जाहिर होता है। हिन्दी कहानी में उदय प्रकाश का अपना यह एक खास योगदान है, जिसमें कहानी उपन्यासों की तरह अपने काल की महाख्यानात्मक अर्थ संभावनाएँ लिये होती है ।

उदय प्रकाश के लिए आदमी की भौतिक दुनिया और उसका आत्मिक जगत्-दोनों ही समान महत्व रखते हैं । सचाई हर चरित्र में एक ही रूप में व्यक्त नहीं होती । परिस्थितियों के एक संदर्भ का मजबूत किला, दूसरे संदर्भ के संस्पर्श मात्र से बालू का ढेर साबित होता है और इसी प्रकार एक परिवेश का निरीह गुलाम अन्य परिवेश के संपर्क में आते ही अपराजेय प्रतिरोध की शक्ति का रूप ले लेता है । जो रचनाकार आदमी के आत्मिक जगत के ऐसे तंतुओं को पकड़ने में विफल होते है, वे रचना को चरित्र की रोमांचकता से वंचित करके उसे पूरी तरह यांत्रिक बना देते है । हड़तालों, जन-संघर्षों से लेकर अनेक ऐतिहासिक नाटकीय घटनाओं को विषय बनाकर लिखी गई रचनाएँ भी यथार्थ के साथ चरित्र के द्वंद्वात्मक

संबंधों की समग्रता को महत्व न देने के कारण निहायत दस्तावेजमूलक बन कर रह जाती है । घटना की नाटकीयता से अधिक से अधिक पंचतंत्र की कथाओं की तरह का कोई नीति संदेश भले प्रेषित हो जाए, चरित्र के संधान से पड़ने वाला प्रभाव हासिल नहीं किया जा सकता ।

उदय प्रकाश अपनी लंबी रचनाओं में यथार्थ और चरित्र की द्वंद्वात्मक पहचान कराते हैं । "टेपचू" हो या "तिरिछ" या "रामसजीवन की प्रेम कहानी" या "पाल गोमरा का स्कूटर" सबमें वह एक भिन्न परिवेश में चरित्र की अपनी नैसर्गिकता के अलग-अलग रूपांतरण की कहानी कहते हैं।

इसी संदर्भ में "वारेन हेस्टिंग्स का सांड" मुझे "पाल गोमरा का स्कूटर" के अंत के व्यक्त रचनाकार की बेबसी और बेचैनी के रचनात्मक विस्तार की तरह प्रतीत होती है । "पाल गोमरा का स्कूटर" में उदय का संज्ञान जहाँ अस्थिर हो जाता है, वहीं इस कहानी में फिर वे अपने उस संज्ञान को प्राप्त करते हैं। "वारेन हेस्टिंग्स का सांड" को मनुष्य की प्राणी सत्ता की तलाश की कहानी कहा जा सकता है ।

लैटिन अमेरिकी जादुई यथार्थवाद की सारी शक्ति आदमी के भौतिक जगत और आत्मिक जगत-दोनों के ही विस्मयों के द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व को तलवार की धार पर चलने के संतुलन और रोमांच के साथ व्यक्त करने में निहित रही है । गोबर युग से लेकर रॉकेट युग, इलेक्ट्रानिक युग तक के यथार्थ के संश्लिष्ट जीवन को व्यक्त करने की जिस शक्ति का परिचय मारक्वेज की शैली ने दिया है, वह शैली तीसरी दुनिया के सारे देशों के यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारगर हो सकती है । अभियोग लगाने वाले मारक्वेज पर भी इतिहास के खिलाफ पिछड़ने की पैरवी का आरोप लगाते रहे है ।

भारत में ब्रिटिश राज की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी इस विवाद से भी इस विषय पर रोशनी पड़ सकती है । उपनिवेशवादियों के तर्क को आज के भारतीय इतिहासकारों ने ठुकरा दिया है । अँग्रेज ज्ञान - विज्ञान के साथ ही औपनिवेशिक लूट, अत्याचार तथा मुनाफे और शोषण के मूल्यों को भी लेकर आये थे । भारत से धन की निकासी ने इग्लैण्ड का औद्योगीकरण किया और भारत को कंगाल बनाया । इसलिए भारत में प्रतिक्रियावादी अँग्रेज थे, उन्हें खदेड़ बाहर करने वाले राष्ट्रवादी भारतीय नहीं । आज भी पूरे अफ्रीका के भयंकर पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण साम्राज्यवाद ही है । उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन एक प्रगतिशील ऐतिहासिक यथार्थ है । इसीलिए भारतीय गाय वंश के सांड का वारेन हेस्टिंग्स पर सींग चलाना किसी कबीलावाद की झंडाबरदारी नहीं, कबीलाई जीवन के अभिशाप से मुक्ति की कोशिश है ।

कहानी और "नयी कहानी" की आलोचना के क्षेत्र में राजेन्द्र यादव के योगदान से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कहानी को समझने के लिए कविता को समझने के औजार कारगर सिद्ध नहीं हो सकते । उन्होंने इन औजारों की अनुपयोगिता को समझा और कहानी को नये तरीके से समझने के लिए अपनी मौलिक स्थापनाएँ गढ़ने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि साहित्य-समीक्षक हजारों साल से कविता -समीक्षा के औजारों से साहित्य में अन्य विधाओं और रूपों का मूल्यांकन कर दिया करते थे । कविता और उसे समझने के औजार क्रमश: अप्रासंगिक हो गये थे और खुद कहानीकारों और नये समीक्षकों ने कथा-समीक्षा पर चलनेवाली बहसों में खुल कर हिस्सा लिया था ।[1]

- -

1. कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति - पृ.सं. 55

इस संदर्भ में एक और बात की तरफ ध्यान दिलाना जरूरी है कि "हिन्दी में नयी कहानी" आंदोलन का एक हिस्सा "खाओ-पीओ" मौज करो और मर जाओ" के इसी स्वप्नविहीन वर्तमान की उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचारक था। वह आजादी के बाद के आदर्शविहीन मध्यवर्ग की भोगलिप्सा और कुण्ठाओं को ही सबसे बड़ा सच माने हुए था। हिन्दी कहानी में इस प्रवृत्ति के एक छोर पर जहाँ मोहन राकेश को रखा जा सकता है, वहीं साठोत्तरी के काल में उसके दूसरे छोर पर राजकमल चौधरी आए। जुगुप्सा की हद तक जाती भोग की ठण्डी, निष्ठुर लालसा में इन दोनों लेखकों ने तो अपनी जान तक दे दी, लेकिन उस भोगवादी नैतिकता के ही जो अन्य कमजोर चरित्र थे, वे अंतहीन लिप्सा में भटकते -भटकते अब अंत में थक कर बैठ गए हैं। अपने किये पर पछतावा कर रहे हैं।

एक समय था जब कहानी केवल कहने सुनने की चीज थी। फिर वह समय आया जब कहानी लिखने-पढ़ने की अवस्था तक पहुँची लेकिन "नयी कहानी" आंदोलन की शुरुआत से वह समझने और समझाने की स्थिति से गुजरती हुई आज साहित्य चिंतन के केन्द्र में आ पहुँची है और स्पष्ट ही इस संदर्भ में आलोचक राजेन्द्र यादव का योगदान उल्लेखनीय है।

तृतीय अध्याय

अन्य साहित्यिक विधाएँ तथा आलोचक राजेन्द्र यादव

(आलोचना, कविता, आत्मकथा आदि)

तृतीय अध्याय

अन्य साहित्यिक विधाएँ तथा आलोचक राजेन्द्र यादव

{आलोचना, कविता, आत्मकथा आदि}

राजेन्द्र यादव ने उपन्यास एवं कहानी पर अपनी मौलिक स्थापनाओं के साथ-साथ अन्य साहित्यिक विधाओं पर भी अपने विचार व्यक्त किया है। अन्य साहित्यिक विधाओं पर उन्होंने काफी कम लिखा है परन्तु जो कुछ लिखा है वह गम्भीर एवं विचारोत्तेजक है। उन्होंने जिस किसी भी विषय पर लिखा उसको विश्लेषित करने के बाद ही अपने विचार दिये हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए यहाँ पर आलोचना, कविता एवं आत्मकथा पर उनके विचारों पर दृष्टिपात किया गया है।

<u>आलोचना</u> :

आलोचना की सामाजिक भूमिका होती है । इसका कार्य है रचना की व्याख्या व मूल्यांकन करना । इससे इस धारणा को बल मिलता है कि यथार्थ में जाने की जिम्मेदारी तो रचनाकार की है, आलोचक का काम है उसे अपने समय के लिए प्रासंगिक मानदण्डों पर कसकर विश्लेषित कर देना । पर आज का आलोचक यह मानकर चलता है कि एक रचनाकार के लिए यथार्थ के बीच हिस्सेदारी जितनी जरूरी है उससे भी ज्यादा वह आलोचक के लिए है । वह कुर्सी पर बैठा कोई ऐसा न्यायाधीश नहीं है जो किताबी कानून के आधार पर कृति के संबंध में अपना निर्णय सुना दे । बल्कि यथार्थ के अंतर्विरोध की गहरी पकड़ ही वह कसौटी है जिसके बल पर वह रचना का मूल्यांकन करता है । इस रूप में रचना की व्याख्या, मूल्यांकन करके ही वह छुट्टी नहीं पा लेता बल्कि उस कहे हुए के लिए मूल्य चुकाने का हौसला भी रखता है । खतरा उठाने के साहस की दरकार केवल रचनाकार से ही नहीं, आलोचक से भी है । उसे अपने घिसे पिटे फ्रेम को बदलना चाहिए । एक ही तरह की आलोचना शैली से पाठक उकता जाता है । आलोचक को शैली से ज्यादा विषय की वैचारिकता पर बल देना चाहिए क्योंकि वैचारिकता से ही आलोचना सार्थक होती है ।

समीक्षा पर अपने विचार रखते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "समीक्षा में आज अपने को सिर्फ तत्कालीन या फौरी सरोकारों और मूल्यांकन कर डालने की सीमाओं में ही बाँध लिया है । हम सिर्फ चौखटाबद्ध प्रवृत्तियों और सद्यः प्रकाशित कृतियों तक ही सिमट कर रह गये हैं । इसमें न तो कभी समीक्षा का सही मुहावरा उभर पाता है, न पद्धति का मानकीकरण होता है । हमारी समीक्षा केवल व्यक्तिगत राय या पसंद बन कर रह जाती है, आधार

यहाँ रचना नहीं होती, पीछे के व्यक्ति या व्यक्तिगत सम्बन्ध होते हैं । इतिहास दृष्टि के अभाव में इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकता । इसे यह भी कह सकते हैं कि कथा समीक्षा का मानकीकरण तब तक नहीं होगा जब तक काव्य समीक्षा की तरह कुछ विधा-गत सैद्धांतिक प्रश्नों या पुरानी कृतियों पर नये सिरे से विचार नहीं किया जायेगा । ... हम या तो काव्य शास्त्र के औजारों से काम चला रहे हैं, या दर्शन शास्त्र की बारीकियों में घुस जाते हैं । मानवीय आस्तित्व और नियति को समझने के लिए हर शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है, लेकिन हर विधा का अपना मुहावरा होता है और वह पूरे परिप्रेक्ष्य के विचार-पुनर्विचार से ही उभर कर आ सकता है । दार्शनिक प्रतिपत्तियाँ राजनैतिक स्थितियाँ, समाजशास्त्रीय सूक्तियाँ समझ को धार और शक्ति दे सकती है, खुद साहित्य की स्थापना नहीं हो सकती ।"[1]

प्राय: आलोचक अधकचरे ज्ञान के कारण रचना के साथ न्याय नहीं कर पाते । वे लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते हैं । आलोचना-क्रम में स्पष्ट ही स्वयं राजेन्द्र यादव भी इस दोष से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये हैं । परन्तु रचनाकार होने के कारण वे कथा-समीक्षा को पकड़ पाने में कुछ हद तक सफल हुए हैं । क्योंकि जो साहित्य का कर्तव्य - कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना । हर विधा का अपना मुहावरा होता है । उसी मुहावरे को उन्होंने समझने का प्रयास किया है । इसी प्रयास से वे इस दिशा में कुछ मौलिक जोड़ पाये हैं । यह निर्विवाद सत्य है कि काव्य शास्त्र के औजारों से उपन्यासों की समीक्षा सार्थकता नहीं पा सकेगी । पिछले दसियों-वर्षों से हमारे यहाँ

---

1. अठारह उपन्यास - भूमिका

उपन्यास-समीक्षा की दो - तीन प्रणालियाँ ही प्रचलित है : कथासार देकर उसकी स्वाभाविकता- अस्वाभाविकता पर विचार, लेखक की दृष्टि की प्रशंसा भर्त्सना, कुछ दार्शनिक या राजनैतिक मुहावरों में उसका मूल्यांकन, भाषा-शिल्प पर समीक्षक की प्रतिक्रिया । निष्कर्षतः "उपलब्धि" या "दस्तावेज" जैसे किसी विशेषण की घोषणा । यह समीक्षा विश्वविद्यालयों के आस-पास मँड़राती है और एक डाक्टर दूसरे डॉक्टर के उपन्यासों पर इसका अभ्यास करता है, इस प्रकार की समीक्षाओं को बाद में एक जिल्द में समेटकर कोई भारी-भरकम, डरावना नाम दे दिया जाता है । सम्पादक होते है कोई उपन्यासकार समीक्षक "डॉक्टर" इस तरह की "कृतकृत्यवादी" समीक्षा अब इतनी पेशेवर हो गयी है कि प्रकाशकीय फ्लैप-मैटर लिखने का भ्रम देती है । समीक्षकों को ऐसी पेशेवर समीक्षा परम्परा को तोड़ना अनिवार्य है । क्योंकि पेशेवर समीक्षा अपना सौंदर्य खो देती है । काव्य समीक्षा में आज भी सूर-तुलसी से लेकर "राम की शक्तिपूजा", कामायनी पर नये दृष्टिकोण से व्याख्यायें होती है, नये से नये अर्थ संदर्भ तलाशे जाते हैं और भाषा से लेकर शैली-विज्ञान, मिथक, बिम्ब, रसास्वाद की प्रक्रिया और प्रकृति पर विचार किये जाते हैं । कथा समीक्षा में ऐसी शुरुआत हुई जरूर थी, लेकिन आज दसियों वर्षों से उसके दर्शन कहाँ होते हैं ? परम्परा से न जुड़ने के कारण ही आज हमारे पास न तो समीक्षा की समझ का मानकीकरण है, न मुहावरे का, शायद औजार है ही नहीं ।

राजेन्द्र यादव की यह धारणा कि "कथा विशेषज्ञ समीक्षक एक भी नहीं हैं" स्वीकार करने लायक नहीं जान पड़ती । क्योंकि कथा-समीक्षा के क्षेत्र में नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, मधुरेश, विजयमोहन सिंह, परमानंद श्रीवास्तव बच्चन सिंह, कमलेश्वर और स्वयं राजेन्द्र यादव ने कथा समीक्षा की समझ, मुहावरे और औजार की तलाश की है । यह बात दूसरी है कि कथा समीक्षा अभी तक

काव्य समीक्षा के बरअक्स खड़ी नहीं हो पायी है । और मौलिक स्थापनाओं के अभाव में कथा समीक्षा अपने मन्तव्य तक पहुँचने की राह पर ही है । कुछ उपन्यास होते हैं जिन्हें केवल साहित्यिक औजारों से नहीं जाँचा जा सकता है । इस बात को उन्होंने महसूस किया है ।

राजेन्द्र यादव ने प्राध्यापकीय आलोचना के खिलाफ जिहाद जारी रखते हुए फरवरी, 99 हंस के संपादकीय में लिखा है कि "विश्वविद्यालय साहित्य के कब्रिस्तान है" जब पहली बार मैंने यह बात कही थी तो प्राध्यापक मित्र बहुत भड़के थे । उन्होंने इसे भी मेरे अन्य भड़काऊ वक्तव्यों के खाते में डाल दिया था । बाद में सोचने पर लगा कि शायद मैं सत्य से बहुत दूर नहीं था । सही है कि ये संस्थान हमारी साहित्यिक, सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण करते हैं मगर पाठ्यक्रम निर्धारण से लेकर साहित्य-समीक्षा तक वहाँ मुर्दापरस्ती का जैसा उदात्त वातावरण है उसमें जीवन चाहे न हो, आत्मा की शान्ति भरपूर मिलती है । इन्हीं फैक्टरियों से आये - दिन जो समाधि-लेख आते रहते हैं उन्हें कहते हैं आलोचना ... यहाँ "गवेषणा" शब्द को जोड़ दें तो आलोचना, समीक्षा, विवेक विश्लेषण और विमर्श जैसे शब्दों को लेकर ऐसा घपला है कि सब एक दूसरे के पर्याय है । इन नामों से हर वर्ष जो सैकड़ों किताबें आती हैं उनमें अधिकांश में कोई मौलिकता नहीं होती । विभिन्न अवसरों, दबावों, कृपाओं, विमोचनों या आयोजनों के अंतर्गत लिखे हुए असम्बद्ध लेख-संग्रहों को भारी-भरकम नाम देकर प्रकाशकों को कृतार्थ कर दिया जाता है ताकि ऐसे ही विभिन्न संस्थानों में उन्हें "इम्प" किया जा सके ... पूरे सौ सालों के साहित्य में मुश्किल से आधा दर्जन नाम ऐसे आलोचकों के मिलेंगे जिन्होंने किसी एक मौलिक विचार स्थापना या दृष्टि को केन्द्रीय कथ्य बनाकर उसके विभिन्न पक्षों पर गंभीरता से चिंतन किया हो - या किसी एक थीम का विकास किया हो... महावीर,प्रसाद द्विवेदी रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, और किसी हद तक नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय, सुधीश पचौरी के सिवा मुझे ऐसा नाम याद करने में

दिक्कत आ रही है जो हिन्दी प्राध्यापकीय दुनिया से आया हो और जिसने मौलिक भी लिखा हो । जैसे मुक्तिबोध ने "कामायनी" और डॉ.देवराज ने "छायावाद" पर, या विजय देव नारायण साही ने "कबीर" और "जायसी" पर या अभी डॉ.धर्मवीर ने कबीर संबंधी प्रचलित मान्यताओं से अलग खड़े होने के वैचारिक साहस से असहमतियाँ दर्ज करके दृष्टि का विस्तार किया है - ये लोग इसलिए भी अलग हैं कि वामपंथी प्रशिक्षण इन्हें दुनियाभर की वैचारिक हलचलों से जोड़े रखता है । इन आधा दर्जन नामों में भी अधिकांश वे हैं जिनकी पृष्ठभूमि हिन्दी साहित्य नहीं है । पुस्तकें आई हैं और नई विचारोत्तेजक सामग्री भी है - मगर उनके लेखक हिन्दी-संस्कार के बावजूद बाकायदा हिन्दी प्राध्यापक नहीं है । उधर प्राध्यापकीय दुनिया की लगभग सारी समीक्षाएँ कोर्स में लगी हुई सामग्री को लेकर ही होती है - टीका-कुंजी से लेकर संत-साहित्य या निराला, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय तक-वहाँ भी प्रतिशत कविता का ही ज्यादा है । इन्हीं लेखकों और रचनाओं में कभी - क्रांतिकारी चेतना" स्थापित की जाती है तो कभी -दार्शनिक चिंतन" लधड़ भाषा, क्लिष्ट तत्सम शब्दों का घटाटोप, अनुवाद कोढित वाक्य विन्यास, आत्ममुग्ध, भंगिमा, पचास बार दुहराये गये बासी तर्क इस प्राध्यापकीय भाषा के महान गुण हैं । अपनी सोच में जो बहुत "मौलिक" लगते हैं उनके स्त्रोत पश्चिमी आलोचनाओं, विशेषकर "रिव्यू" लेखों में आसानी से तलाश किये जा सकते हैं । वे खुद इस बात को जानते हैं और मन ही मन हमारी अज्ञानता पर खुश होते हैं कि इन ससुरों को पता ही नहीं कि यह सूत्र या विचार हमने कहाँ से उड़ाया है । मजे की बात है कि कालान्तर में वे खुद यह विश्वास करने लगते हैं कि उन्होंने जो लिखा है वह सचमुच मौलिक है और पहली बार वे ही लिख रहे हैं । दूसरे अनुशासनों के बरअक्स अपनी स्थापनाओं के बकायदा स्त्रोत बताने से हिन्दी प्राध्यापक डरता है ।

इस क्रम में राजेन्द्र यादव आगे व्यंग्यात्मक शैली में लिखते है कि वस्तुतः हमारी यह आलोचना आराम और फुरसत का शगल हैं – अपने नाम के आगे किताबों की लम्बी सूची लगाकर, धमकाने का शौक हैं । विचार के लिए फील्डवर्क, होम वर्क या अनजान अपरिचित क्षेत्रों में जाने का जोखिम उठाना पड़ता है, दूसरे अनुशासनों की सहायता लेनी पडती है, यह सब इस आलोचक के लिए अकल्पनीय है । वह सुविधापूर्वक किताबों से किताब तैयार करता है । खतरनाक है उसकेलिए ऐसी रचना पर लिखना जो या तो कोर्स में नहीं है या कोर्स में लगने की संभावना से बाहर है । उनके ध्यानाकर्षण के लिए रचना या रचनाकार का नख-दंत विहीन या वैजिटेरियन या स्वर्गीय होना जरूरी है यानी ऐसा बिल्कुल नहीं जहाँ परम्परा, नैतिकता या संस्कृति के बारे में किसी अलग ढंग से सोचा गया हो । मुझे याद है श्रीलाल शुक्ल के "राग दरबारी" पर उठा हुआ तूफान या नामवर जी द्वारा लगाये गये जोधपुर विश्वविद्यालय में राही मासूम रजा के उपन्यास "आधा गांव" पर हंगामा । या पिछले वर्ष "हंस" में प्रकाशित दूधनाथसिंह की कहानी "नमो अंधकारं" और काशीनाथ सिंह का रिपोर्ताज "संतों घर में झगडा भारी" पर प्रतिक्रियाएँ । मूलतः कविता ग्रस्त यह हिन्दी आलोचक रूढ़िवादी (कन्जर्वेटिव), जड़ परम्पराओं का पोषक और सबसे घटिया अर्थों में "हिन्दू" है ।

राजेन्द्र यादव के लेखन में प्राध्यापकीय आलोचना के खिलाफ काफी आक्रोश है । यह आक्रोश स्वाभाविक है,क्योंकि पारम्परिक शास्त्रीय आलोचना से विचारशील एवं गंभीर चिन्तक को तकलीफ होती है। या फिर उनके इस आक्रोशाजन्य व्यावहार के पीछे यह हीनता-ग्रंथि रही हो कि वे स्वयं प्राध्यापक नहीं है । परन्तु सच तो यह है कि विश्वविद्यालय - प्राध्यापक अपने अधकचरे ज्ञान और स्वरहीन सोच को अपनी आलोचना का विषय बनाकर विद्यार्थियों पर थोपते रहें हैं ।

आज विद्यार्थी की साहित्यिक जिज्ञासा का शमन करना इनके बूते की बात नहीं है । फलतः मौलिक सोच और आलोचना का स्तर लगातार गिरते जा रहा है । दरअसल शिक्षा की व्यावसायिकता ने प्राध्यापकों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया है जो अपनी कुंठित और लचर आलोचना की भड़ास आकाशवाणी द्वारा या अपने मित्रों, सहकर्मियों की पत्रिकाओं में छपाकर निकालते हैं । इनके "कनेक्शन" पूरे हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों तक रहते हैं और आज जो साहित्यिक आलोचना की स्थिति हैं उसका काफी श्रेय इन साहित्यिक मठाधीशों को ही जाता है ।

राजेन्द्र यादव के ऐसे वक्तव्यों के मद्देनजर प्राध्यापकों को भड़कने की जरूरत नहीं बल्कि अपनी आलोचना दृष्टि को परखने की जरूरत है । कारण यह है कि विद्वता की हालत यह है कि हमारे पास साहित्य का इतिहास भी अभी तक रामचन्द्र शुक्ल का ही है - साठ-सत्तर साल पहले लिखा गया - आनेवालों ने उसमें नाम जोड़े और घटाये हैं । दयनीयता की हद है कि पिछले वर्षों डॉ. बच्चन सिंह और डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के इतिहास आये - इनमें एक साहित्य अकादमी का प्रकाशन हैं । साँचा वहीं शुक्ल जी का है । स्पष्ट ही इन इतिहासों में पाँच प्रतिशत भी नया नहीं है । नई सामग्री, इण्टरप्रेटेशन या शोध का तो सवाल ही नहीं उठता, जो है वह या तो अप्रामाणिक हैं या अधूरा । इसीलिए राजेन्द्र यादव जोर देकर कहते हैं कि हिन्दी का सारा मौलिक चिन्तन या रचनात्मक लेखन उन लोगों ने किया हैं जो लम्बे समय तक प्राध्यापक नहीं रहे हैं या इस जालसाज़ दुनियां से बाहर हैं । शुरू के दो-चार वर्ष तो इन प्राध्यापकों में भी नया कुछ करने की आग रहती हैं - इसके बाद वे उसी यथास्थिति की बजबजाती स्नॉब दुनिया का हिस्सा बन जाते हैं । मुझे तो काशीनाथ सिंह और दूधनाथ के अलावा कोई नाम याद नहीं आ रहा जिसने लम्बे प्राध्यापन के बावजूद अपने भीतर की रचनात्मक आग को जिलाए रखा हो - किसी हद तक

श्रवण कुमार गोस्वामी या सी. भास्कर राव का नाम भी लिया जा सकता है। काशी और दूधनाथ ने भी " खतरनाक" रचनाएँ नौकरी से मुक्त होकर ही लिखी हैं ।[1]

जाहिर है आज आलोचना का स्तर काफी गिरा है । इस सत्य को राजेन्द्र यादव के साथ-साथ अन्य विचारशील आलोचकों ने भी शिद्दत से महसूस किया है । उदाहरणार्थ कुछ आलोचकों के विचार जानलेना आवश्यक है । डॉ. विजय मोहन सिंह ने कहा है कि छायावाद के दौर में रचनाकारों ने स्वयं के लिए अपना साहित्य शास्त्र भी तैयार किया था । यानी निराला, पंत महादेवी और प्रसाद ने आलोचना की पृष्ठभूमि भी तैयार की । उन्होंने कहानी, कविता और उपन्यास की तरह समीक्षा को भी एक स्वतंत्र चिंतन विधा माना । फिर भी उन्होंने चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि आज आलोचक के पास जो थोड़े बहुत शब्द हैं, वे बहुत अधिक व्यवहृत होकर खोखले हो चुके हैं । खोखले चिंतन का आतंक कहें या चिंतन का खोखला आतंक, इसी विभ्रम में कभी देरिदा निकल आता है तो कहीं से फूको निकल आता है । समीक्षा में इस मकड़जाल से बाहर निकलने की जरूरत है ।[2]

कथा लेखिका जया जादवानी का कहना है कि आलोचक के पास कुछ बने-बनाये फार्मूले होते हैं, जबकि लेखक के अपने अलग-नार्मस होते हैं । आलोचक के पास शब्दों का संसार भी सीमित होता है वह घिसे-पिटे शब्दों से ही अपना काम चला रहा होता है, इसलिए यदि रचना अच्छी है तो देर-सबेर पहचानी ही जाएगी ।[3] ममता कालिया की मान्यता है कि यहां आलोचक रचनाकार की हैसियत मांग रहा है, यह हैरत की बात है, जब कि आलोचना कर्म करते

---

1. हंस - संपादकीय - फरवरी, 1999
2. हंस - अप्रैल, 2000 - पृ.सं. 83
3. - वही - पृ.सं. 84

हुए वह बहुत शातिर होता है । भेड़िये भेड़ की भाषा क्यों बोल रहे हैं, यह मर्म भी जानना होगा । सामान्यत: आलोचना कर्म का काम रचनाकर्म को उन्मुख करना है, लेकिन कई बार ऐसा नहीं होता । मसलन श्रीपतराय ने श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास पर लिखते हुए कह दिया था कि यह महाऊब का महाग्रंथ है ।[1]

आलोचना परविचार करते हुए मंगलेश डबराल इसी तर्ज पर कहते हैं कि - हिन्दी आलोचना के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उसकी माँग होती है कि उसे महत्व दियाजाय । उस रचना से भी ज्यादा, जिसकी वह आलोचना है । आलोचना महत्वपूर्ण होने की कोशिश या दिखावा करती है । जबकि होती नहीं है ।[2] अर्चना वर्मा मानती है कि आज की आलोचना का सीधा सरोकार जिन्दगी से हैं । उन्होंने रचना की अपेक्षा आलोचना को अधिक सक्षम बताया और कहा कि लेखक के लिए समीक्षा एक तरह से फीड बैक का काम करती है ।[3] प्रख्यात कथाकार पंकज बिष्ट की धारणा है कि "लेखक और आलोचक के संबंध एंटोगोनिस्ट है" ऐसा वे नहीं मानते हैं । लेखक आलोचक का शिकार नहीं होता, बल्कि आलोचक का काम लेखक व पाठक की समझ को बेहतर बनाना भी होता है । उनका यह कहना भी है कि इस सदी के अंतिम बीस वर्षों में आलोचना में ज्यादा बड़ा काम नहीं हुआ और लंबी कहानियों के सतही यथार्थ की तारीफ हुई है ।[4]

राजेन्द्र यादव का इस संदर्भ में मानना है कि आलोचना में जो ठहराव आया है उसके पीछे कारण यह है कि पुरानी आलोचना एग्जॉस्ट हो गई है । अब नई आलोचना के लिए नए औजार और नये धरातलों की तलाश होनी चाहिए,

---

1. हंस - अप्रैल, 2000 - पृ.सं. 84
2. लेखक की रोटी - पृ.सं. 112
3. हंस - अप्रैल, 2000 - पृ.सं. 84
4. - वही - पृ.सं. 84

तभी माहौल बदल सकता है ।[1] इसी क्रम में आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं - "आज भी आलोचना, आलोचना के प्रत्ययों, अवधारणाओं और पारंपरिक भाषा से इतनी जकड़ी हुई है कि वह नई बन ही नहीं सकती । ..... भाषा को जब तक हिन्दी आलोचना नहीं तोड़ेगी तब तक वह कवायद करती रहेगी एक ही जगह पर । .... जिस दिन यह भाषा तोड़कर हम नई भाषा बनायेंगे आलोचना पढ़ने लायक होगी अन्यथा यह चोरों की या उनके गिरोहों की एक कूट भाषा बनेगी जिसमें खग बोलेगा और खग ही सुनेगा ।[2]

कहना न होगा कि आलोचक के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि जिस कृति का या कृतिकार का विश्लेषण करना है उसका स्वरूप क्या है ? हर तरह की रचना और रचनाकार का विवेचन एक ही पद्धति से नहीं हो सकता। विवेचन की दृष्टि एक होने पर भी रचना के स्वरूप के अन्तर के साथ-विवेचन की पद्धति में भी परिवर्तन आवश्यक है । एक यथार्थवादी कृति का विवेचन जिस ढंग से होगा उसी ढंग से स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक या प्रतीकात्मक पद्धति की रचना का नहीं होगा । जो आलोचक या समाजशास्त्री यह सावधानी नहीं रखते हैं वे प्राय: सरलीकरण के शिकार होते हैं । मुक्तिबोध ने यह सावधानी रखी है । उन्होंने लिखा है कि "साहित्य दो प्रकार का होता है । एक वह जिसमें युग प्रवृत्तियों से संचालित नियंत्रित होते हुए भी साहित्यकार सचेत रूप से उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों का विकृत असंस्कृत प्रतिबिंब ही लिए रहता है । दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमें उन युग प्रवृत्तियों के वास्तविक अभिप्राय गर्भितार्थ तथा उनके निर्माण कार्य अथवा विनाशकार्य आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है और वर्तमान के पार मानव जाती को निहारा जाता है।" स्वाभाविक है कि इन दोनों प्रकारों के साहित्य की आलोचना एक ही ढंग से नहीं हो सकती ।[3]

---

1. हंस - अप्रैल, 2000 - पृ.सं. 84
2. पहल 53 - जनवरी फरवरी मार्च, 96, - पृ.सं. 53
3. साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका - पृ.सं. 62

सच तो यह है कि आलोचना मूलतः अपने ही रचनाकार्य के सवालों को समझने और उन्हें सुलझाने की एक कोशिश रही है । प्रत्येक रचना मूलतः और अन्ततः एक रचनादृष्टि - क्रिएटिव विजन का रूपग्रहण और सम्प्रेषण है, इसलिए किसी भी पूर्व निर्धारित प्रतिमान चाहे उस का आधार कोई विचारधारा हो या सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा - के साँचे में न अंट सकने वाली रचना को खारिज कर देना या उस की अनदेखी करना रचनात्मकता से कतरा कर निकल जाना ही नहीं अपने को एक विशिष्ट रचनात्मक अनुभव से वंचित रखना है । प्रत्येक कृति अपूर्वानुमेय होती है - तभी तो वह रचना है - इसलिए उसे उस कीअपनी मर्यादाओं में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है । समय विचार और नैतिक उत्तरदायित्व के सारे सवाल अन्ततः एक रचनादृष्टि में रूपान्तरित हो जाते हैं । इस रचनादृष्टि के रचनारूप होने के बीच जो कुछ घटित होता है उसे जानना ही आलोचना है ।

राजेन्द्र यादव आलोचना के क्षेत्र में आये ठहराव और गिरते हुए स्तरकी खोज पड़ताल करते हुए लिखते हैं कि मैं जब-जब रचना के संदर्भ में आलोचना की बात सोचता हूँ, मुझे अमरबेली याद आ जाती है । साहित्य-शास्त्रियों का कहना है कि लक्ष्यग्रंथों के अभाव में लक्षण-ग्रंथों का अस्तित्व नहीं होता। मगर देखा गया है कि धीरे-धीरे ये लक्षण ग्रंथ ही सारी साहित्यिक गतिविधियों के विधायक और नियामक बन बैठते हैं, और यों सुंदर स्वस्थ रचनाओं की शाखों और कोंपलों का रस पी-पीकर पनपने वाली साहित्य की यह बेलि या तो धीरे-धीरे उन्हें ही सुखा डालती है, याउन्हें इतना छा लेती है कि पेड़ के अपने गुण ही दिखाई देने बंद हो जाते हैं । नतीजे में जीवित साहित्य से कटकर "आलोचना" का अपना अलग शास्त्र बनता है, अलग नियम उपनियम बनते हैं और फिर उन सबका अलग इतिहास तैयार किया जाता है । यही नहीं, अपनी इस आधार शून्यता या खोखलेपन को छिपाने के लिए भारी-

भरकम जबड़ातोड़ शब्दों का निर्माण होता है, विशेष दार्शनिक जाल-जंजाल के साथ उनका प्रयोग किया जाता है । फिर समय-समय पर इस सबसे रचनाकार को डराया जाता है कि कहीं, किसी दिन वह अपने आसन की मांग न कर बैठे । इस सुरक्षा के लिए यह भी जरूरी माना जाता है कि रचना और आलोचना की दूरी को प्रयत्नपूर्वक हमेशा कायम रखा जाय अर्थात् आलोचना को एक ओर तीन-सौ वर्ष पुराने साहित्य से चिपकाये रहा जाए और दूसरी ओर सम सामयिक सर्जनात्मक साहित्य को अछूत और अपाठ्य घोषित करते रहा जाए । शिक्षण-संस्थाओं की किलेबंदी द्वारा इस दूरी को जिस सफलता से कायम रखा गया है वह विशेष प्रशंसा के हकदार है । उनका मानना है कि रचना और आलोचना के इस अन्तराल या सरहद पर बंदूक लेकर मुस्तैदी से पहरा देते रहने वाले संतरी का नाम होता है आलोचक । यह नाना वेशों में पाया जाता है । पर प्राय: अपनी छोटी उम्र में यह दूसरे "आलोचकों" के परिश्रमपूर्वक लगाये बाग के फूल चुरा-चुराकर अपनी जयमाला बना लेता है और उसका नाम देता है "थीसिस"। बड़ी उम्र में प्राय: या तो विभागीय अध्यक्ष बनने की तिकड़में लड़ाता पाया जाता है या दार्शनिक सूक्तियों का वमन करता । इस प्रकार एक अमरबेली के ऊपर दूसरी अमरबेली पनपती है और वे आपस में ही एक-दूसरे को खाती हैं । जब "एक की उगलन, दूसरे का भोजन" की यह परंपरा बासी होकर बदबू देने लगती है तो इन्हीं से झुंझलाकर कोई एक "संतरी", "साहित्य का इतिहास" लिख डालता है । मगर यहां भी आवश्यक होता है कि ग्रंथ के विषय-वस्तु और ग्रंथ-लेखन की तिथियों में तीन सौ वर्षों का न सही तो कम-से-कम तीस वर्ष का अंतर जरूर रखा जाए । इससे बिना किसी कठिनाई के उसे "आधुनिक इतिहास" का नाम दिया जा सकता है ।[1]

---

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 159

राजेन्द्र यादव पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षा" से भी नाखुश नजर आते हैं । उनका मानना है कि यहाँ कोई जिल्द की प्रशंसा करता है तो कोई छपाई-सफ़ाई के लिए प्रकाशक को गाली-प्रशंसा देता है । रचना के पुस्तकाकार आने से पहले ही उसकी समीक्षा प्रकाशित हो जाना, या (भारत में) एकाध संस्करण तक कहीं उसकी चर्चा ही न दिखाई देना तो बहुत साधारण सी बातें हैं कोई पुस्तक की सामग्री या कथा ज्यों की त्यों उतार देता है तो कोई समीक्षा की जगह प्रकाशकीय विज्ञापन की नकल कर देता है । एक ही पत्रिका में प्रकाशित एक लेख उसे "युग-प्रवर्तक" का नाम देता है तो दूसरा उसे "निहायत घटिया" करार देता है । समीक्षकों को बराबर पारिश्रमिक न मिलना ही इस प्रकार की समीक्षाओं के निम्न स्तरीय होने का मुख्य कारण है । उनका मानना है कि दूसरी ओर किसी भी विदेशी पत्रिका को उठा लीजिए और उसकी समीक्षा के पन्ने गिन डालिए । वे किसी भी लेख से कम नहीं होते ।[1]

प्रसंगात् नंदकिशोर आचार्य के विचारों को देख लेना वाजिब होगा - "आलोचना से रचना के मूल्यांकन की आशा तो पहले भी की जाती रही है लेकिन आधुनिक काल में यदि मूल्यांकन की बजाय रचना के विश्लेषण, उसकी प्रासंगिकता की पहचान या रचना की समझ विकसित करने की माँग अधिक की जाती है तो उसका एक कारण यह भी है कि आलोचना से अब यह अपेक्षा की जाने लगी है कि वह रचना के सम्प्रेषण की भूमिका तैयार करने का दायित्व भी निभाये- बल्कि यह दायित्व भी दोहरा है क्योंकि एक ओर उसे रचना को पाठक तक पहुँचाने में पुल का काम करना है और दूसरी ओर सम्प्रेषण के ही सरलीकृत फार्मूलों के खतरों और उनके कारण हो रही अनुभूति की विकृति के खिलाफ चेतावनी भी

- -

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना + पृ.सं. 160

देते रहना हैं । यह स्थिति चाहे दुखद हो पर सत्य है कि आज रचना के अधिकतर पाठक या तो रचनाकार हैं या आलोचक और रचनाकारों के मन में एक दबी आकांक्षा यह भी रहती है कि उन्हें कोई एक भी ठीक आलोचक मिल जाये बल्कि कई बार तो स्वयं रचनाकार ही प्रकारान्तर से अपने आलोचक का काम करने लग जाते हैं - याने दूसरे बहाने से अपनी ही रचना की प्रासंगिकता औचित्य या सार्थकता की ओर अप्रत्यक्ष संकेत करते रहते हैं । यह नहीं मान लेना चाहिए कि इसके पीछे सिर्फ यश की महत्वाकांक्षा है क्योंकि लोकप्रियता जैसी चीज़ तो किसी भी आधुनिक लेखक के लिए फिर भी दूर रहती हैं । लेकिन अपने को दूसरे द्वारा ठीक तरह से समझे जाने यानी अपने सम्प्रेषित हो पाने का मानसिक सन्तोष भी तो उसके बिना संभव नहीं है - यह संतोष एक रचनात्मक आवश्यकता है । यही कारण है कि आधुनिक काल में आलोचना भी साहित्य के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाने लगी हैं ।[1]

जाहिर है आलोचना एक स्वतन्त्र विधा है और उसमें रचनात्मकता भी होनी चाहिए । आलोचना में ठहराव के कारण ही कुछ रचनाकार स्वयं अपनी रचना की आलोचना करने के कार्य कर रहे हैं । रचनाकार जब स्वयं आलोचना करता है तो उसमें कई बार आत्म-प्रशंसा का भाव छलकता है जो आलोचना के लिए ठीक नहीं है । राजेन्द्र यादव रचनाकारों द्वारा आलोचना लेखन को आलोचना के भविष्य के लिए ठीक नहीं मानते ।

उन्होंने लिखा हैं कि - सच पूछा जाए तो रचना के अभाव या उसकी अनुपस्थिति में आलोचना की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती है जितनी उसके रहते हुए । वस्तुतः अच्छी आलोचना भी उसी सजग और तीक्ष्ण बौद्धिक स्तर एवं भाव-स्थिति की उपज है जिस पर रचना का जन्म होता है । इसलिए तटस्थ

- -

1. रचना का सच - पृ.सं. 43

होने के नाते, यानी निर्वैयक्तिक होने के कारण वह रचना और भावक के बीच एक सुखद संबंध बना सकती है। अपेक्षाकृत अविकसित राग-बोध वाले मन को वह संस्कार देती और तैयार करती है कि रचना के सौंदर्य और रस का अधिक गहराई और तीव्रता और निजत्व-आत्मीयता के साथ आस्वादन कर सके । संक्षेप में यह रचना के अनुरूप मानसिक वातावरण का निर्माण करती है । यही नहीं, रचना प्रक्रिया की जटिलता और थकान से विश्रांत कलाकार के मन में अधिक आत्म-विश्वास भरने के साथ-साथ पाठक या भावक के मानसिक स्तर को परिमार्जन और व्यापक ग्रहणशीलता देती है । हाँ, इसके लिए यह भी जरूरी है कि आलोचक अपनी रुचि और ग्रहणशीलता का भी परिमार्जन और संस्कार करता रहे - वरना शीघ्र ही वह कुछ रूढ़ियों का जन्मदाता बनकर रह जाता है और केवल अपनी प्रमाणरहित उक्तियों को ही आलोचना के रूप में पेश करता है । चूंकि आलोचक दोनों ही पक्षों से असंपृक्त-अनासक्त होता है, इसलिए अधिक व्यापक स्तर और परिप्रेक्ष्य पर मूल्यांकन और निरूपण कर पाने की सक्षम अन्तर्दृष्टि उसके पास होती है । वह किसी भी कृति का विवेचन सामाजिक और ऐतिहासिक अनेक संदर्भों में और शायद अधिक संतुलित सही कसौटी पर कर सकता है । उनका मानना है कि इस सब के अभाव में रचना या तो उपेक्षित रह जाती है या अन समझी । ये दोनों ही स्थितियां लेखक को अनेक कुंठाओं का शिकार बना देती है । मानवता के नये-नये सौंदर्य, मूल्यों और स्तरों की खोज-यात्रा में वह अकेला पड़ जाता है, तब वह या तो भटक जाता है या रुककर पीछे देखने कभी-कभी लौटने-लगता है । "स्वयंभू" होने का दंभ उसे "एकला चलो" का शहीदाना नारा लगा लगाकर अपने को गौरवान्वित भले ही करता रहे, लेकिन सच्चाई यह है कि उसका रुकना या भटकना दोनों ही खतरनाक हैं । उस समय वह अक्सर आलोचना का गांडीव स्वयं उठाने का नाट्य करता है । तब या तो "बेसमझ पाठकों, आलोचकों को" एक सिरे से गालियां सुनाने और पानी पी-पीकर कोसने लगता

है या स्वयं अपने परिश्रम की गरिमा और "उपलब्धि" की महिमा बखानता है दोनों रूपों में वह आलोचना न देकर "आत्म-श्लाघा" देता है । भीतरी या बाहरी मजबूरियों के कारण रचनाकार को आलोचना लिखना आवश्यक चाहे जितना हो - स्वस्थ और श्रेयस्कर दोनों ही नहीं हैं । दूहरे कर्तव्य के बोझ को उठा लेना उसके अहं को संतुष्टि दे सकता है लेकिन रचना और उसकी तटस्थ भाव से आलोचना एक व्यक्ति के लिए संभव है ही नहीं । देखा तो व्यवहार में यह गया है कि रचनाकार जब स्वयं आलोचना पर उतरता है तो वह औरों की अपेक्षा अधिक असहिष्णु, अधिक संकीर्ण और अधिक दुराग्रही होता है । हाँ, समय-समय पर रचनाकार द्वारा "आत्मान्वेषण", या "आत्मनिरीक्षण" के नाम पर "आत्म-मूल्यांकन" या "आत्मोपलब्धि" एक ही चीज़ तो नहीं हैं । अन्वेषण से "गति" और "गत्यात्मकता" का पता चलता है जबकि मूल्यांकन सिंहावलोकन अर्थात् गति-समाप्ति या यात्रा के अंत का सूचक है । इस सारी स्थिति में आलोचना को स्वयं समझना होगा कि उसका स्थान कहाँ है । क्योंकि युग जितना ही संकट-संक्रमणों और दुरूह जटिलताओं भरा होता है, ईमानदार तटस्थ आलोचना के लिए रचना उतनी परंपरा-मुक्त होती जाती है । और यह सारी स्थिति उतनी ही बड़ी चुनौती है । देखना है कि हमारी आलोचना रचना की इस चुनौती को किस धरातल पर स्वीकार करती है । आज भी वह तीन सौ वर्ष पहले क्या हुआ था या तीन सौ वर्ष बाद क्या हो जाना चाहिए इसे लेकर परेशान होने में अपनी सार्थकता मानती है या समकालीन रचना-प्रक्रिया से अपना संबंध और दायित्व स्वीकार करके उसके पथ प्रशस्त करने में हाथ बंटाती है ।[1]

साहित्य में आलोचना के महत्त्व और उसकी उपादेयता को ध्यान में रखते हुए राजेन्द्र यादव की राय है कि -जब जब आलोचना ने रचना से विमुख

- -

1. कहानी : स्वरूप और संवदना - पृ.सं. 152

और प्रमुख होकर अपनी महत्ता और सत्ता सिद्ध करने की कोशिश की है तब तब साहित्य में "बांझ-युग" आये हैं । या शायद यों कहना ज्यादा सही होगा कि "बांझ-युग" ही आलोचना के फलने - फूलने का उपयुक्त मौसम होता है । उसी समय तो आलोचक को अवसर मिलता है कि भारी-भरकम शब्दों में सैद्धांतिकता का जामा पहनाकर रचनाकार को यह बताए कि उसे क्या लिखना चाहिए- और "क्या नहीं लिखना चाहिए" या पाठक को समझाए कि "उसे क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं पढ़ना चाहिए ।" उनके कहने का यह आशय कभी भी नहीं रहा है कि यह "चाहिए" की बौछार लेखक को अच्छा लिखने की प्रेरणा या पाठकों को समझाने की दिशा नहीं देती - लेकिन उन्हें यह जरूर लगता है कि आलोचना का लक्ष्य इतना मौसमी नहीं होता ।

आलोचना को लेकर राजेन्द्र यादव की विस्तृत एवं व्यापक सोच से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना एक स्वतंत्र विधा है । निस्संदेह आलोचना को आज बने-बनाये रूढ़िग्रस्त ढाँचे से बाहर निकालने की आवश्यकता है । इसके लिए नये औजारों और नये धरातलों की खोज़ जरूरी है । शिविर-बद्धता आज हमारी आलोचना के लिए खतरा बनी हुई है, इसे खत्म करने की जरूरत है । इस दिशा में राजेन्द्र यादव ने जो पहल करने की कोशिश की है वह अच्छी शुरूआत मानी जा सकती है ।

कविता :

साहित्य में कहानी और कविता की उम्र को लेकर सदा से विवाद रहा है । कहानी के पक्षधर आलोचक कहानी को पुरानी और कविता के आलोचक कविता को सबसे पुरानी एवं सशक्त विधा मानते रहे हैं । इस विवादास्पद पहलू पर प्रकाश डालते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि -अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह जैसे लोग कहानी को सिर्फ एक कला-रूप की तरह देखने का आग्रह करते हैं,

तो आश्चर्य होता है । निश्चय ही यह "दूर बैठे का दुख" ही हो सकता है । उनकी कुछ स्थापनाएँ मनोरंजक हैं : चूँकि कहानी का इतिहास केवल सौ सालों का भी नहीं हैं, इसलिए उसमें समाज-वमाज जैसी चीज़े ज्यादा हैं - इधर कविता सैकड़ों वर्षों से इतनी छन-निथर गई है कि वहां जीवन के आधारभूत और आध्यात्मिक सवालों को फिलहाल छोड़ दें, तो जिस कविता की बात अशोक वाजपेयी कह रहे हैं, हिंदी में तो वह सौ साल पुरानी भी नहीं है। उस दलील से तो कहानी पुरानी विधा सिद्ध की जा सकती है । कहानी हो या कविता, वस्तुस्थिति यह है कि पश्चिमी-प्रभावों में इनका यह बदला हुआ रूप हिंदी में, सौ वर्षों में ही ढला है । स्थितिगत साक्ष्य के बावजूद हमें यह मानने में शर्म क्यों है कि कहानी, कविता और समीक्षाएं- तीनों ही हमने पश्चिम से ली है और तीनों ही हमारी अपनी परंपराएं, इनके वर्तमान स्वरूप को समझने में न साध्य है, न उपादेय है ।[1]

अशोक वाजपेयी द्वारा कविता को लेकर दी गई स्थापनाओं पर राजेन्द्र यादव अपनी राय व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि -अशोक वाजपेयी कविता कहानी के संदर्भ में वही पुराना ब्रह्म और माया का सवाल उठा रहे हैं । कविता ब्रह्म है,कहानी माया । आत्मा जितना ही माया से मुक्त होगी, उतनी ही ब्रह्म में लीन होगा । "कविता के विमर्श" में उनके यहाँ "अध्यात्म" शब्द अनायास ही नहीं आ रहा । हाँ, उन्हें "माया" यानी भौतिक-सामाजिक प्रदूषण, विश्लेषण ही लेना होगा, तो पश्चिम से लेंगे - आज अपना इतना सार्थक कहां ? भारतीय अध्यात्म और पश्चिमी भौतिकता का वही पुराना सामंजस्य [2] इसी क्रम में वे आगे लिखते है कि जब अशोक वाजपेयी जैसे विचारक यह शिकायत करते हैं, कि साहित्य में विशेषकर कविता में शब्दों की संख्या बहुत सीमित होती

- -

1. हंस - जनवरी, 1997 - पृ.सं. 7
2. - वही - पृ.सं. 7

जा रही है तब वह अपने अनजाने ही उस संवेदना के सूखते जाने की शिकायत कर रहे होते हैं, जिसके स्त्रोत कहीं नहीं हैं। न अपने जनजीवन में, न पश्चिम के उत्तर-आधुनिक विमर्श में। चूंकि पश्चिमी उत्तर-आधुनिक और विखंडनवादी बहस ने अपने बीच से कविता को लगभग बिल्कुल ही निष्कासित कर दिया है इसलिए वहां विचार तो मिल सकते हैं शब्द नहीं। यहाँ अशोक वाजपेयी की यह आत्म-स्वीकृति काफी हद तक ईमानदार है कि उनके पास सीमित शब्दावली यानी निरंतर छीजती संवेदना है जहाँ या तो दुहराव है, किशोर देह-धर्मिता है या फिर है अनंत मौन... दुखद यह है कि वे अपनी बीमारी की जड़ को नहीं देखना चाहते ... सिर्फ अपने गिनाते हैं।

विडम्बनापूर्ण वास्तविकता तो यह है कि अशोक वाजपेयी महज पंद्रह वर्ष पहले जिस कविता की वापसी का स्वागत बड़े उत्साह से कर रहे थे, पंद्रह वर्ष के भीतर ही वे अब इस तरह की शिकायत कर रहे हैं कि समकालीन हिंदी कवितामें एक गतिरोध है, वह बहुत कम शब्दों से अपना काम चला रही है, उसकी भाषिक संरचना एकस्तरीय है। वस्तुत: अशोक जी अभी भी समस्या के मर्म पर उंगली नहीं रख रहे हैं। असली बात भाषिक संकट की नहीं, अनुभव के संकट की है। वर्गबद्ध सीमित जीवन-स्थितियों के खंडित अनुभवों के भीतर आखिर भाषा का कौन-सा जलवा दिखाया जा सकता है ? यह हमारे मध्यम-वर्गीय मानस की विवशता है कि बोध की सारी नई संभावनाओं को हमने एक यूरोपीय सरल रैखिक विस्तार में ग्रहण किया ह, अपने अनुभव की वर्तुलाकार परिव्याप्ति में नहीं। हमारा अनुभव धारणा के स्तर पर फैलता है, पर अनुभव के स्तर पर सघन नहीं हो पाता। उसमें हर समय एक सोचने वाला, बहस के ऊपरी इलाकों में विचरने वाला, हमेशा-चेतन मस्तिष्क से चालित एक सुलझा हुआ मनुष्य है, हाड़-मांस का, अपनी अंतरात्मा के उलझावों में फंसा हुआ,

---

1. हंस - नवम्बर, 1997 - पृ.सं. 7

दूर-दूर तक अपने समूचे अस्तित्व के साथ गूंजता हुआ मनुष्य कहीं नहीं है । हमारी कविता का स्वर एक नियंत्रित स्वर हैं । हमारी भाषा इकहरी इसलिए है कि उसमें हमारे आंतरिक इलाके नहीं हैं । जहाँ हम यथार्थ के बहुत सारे ब्यौरे दे रहे हैं, वहां भी हम केवल दर्शक हैं, औपचारिक है । यह एक कामचलाऊ, दौड़ती भागती, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय की रेगुलेटेड भाषा है । इसमें किसी तरह की आत्मनिष्ठता के मूड, अलंकरण, इंद्रियजन्य संगीतात्मक प्रतीक, कल्पना की उड़ान, आंतरिक लयों की विविधता और गहराई में धंसा हुआ रहस्यवाद नहीं है । (रहस्य को हमारे समय में एक लगभग वर्जित शब्द मान लिया गया है ।) तदर्थवाद, इकहरेपन, सरलीकरण, पाखंड और रुग्णताओं के खिलाफ कोई भी मोर्चा खोलना और असंदिग्ध मान लिए सच की दरारों में प्रवेश करना क्या केवल भाषा की एक स्वायत्त हिकमत के जरिये संभव है ? हमारे अवसाद, उदासी आवेग, राग, कौतूहल, लगाव, कल्पना, गेयता, कौतुक और रोमांच के अनुभव क्या केवल भाषा के इलाके में होने वाली हरकते हैं ? हमारी भाषा में नरेटिव के तनाव समाप्त क्यों होते जा रहे हैं । अशोक वाजपेयी जी भाषा के संकट की बाते तो करते है, पर इन मुद्दों को साफ नहीं करते ।[1]

कहा जाता है कि "नयी कविता" परम्परा का तिरस्कार है और "नयी कहानी" परंपरा का विस्तार । इसीलिए प्राय: सारे प्रयोगवादी या नये कवि धीरे-धीरे कहानी में ही अपने को केन्द्रित करने लगे । धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल, श्रीकान्त वर्मा आदि सप्तकों के सनदयाफ्ता कवि माने जाते हैं । लेकिन कहानी की शक्ति और युग-बोध के स्वर को सम्पूर्णता और प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति देने की क्षमता ने इन्हें अपनी ओर आने का प्रलोभन दिया है । लेकिन शायद ही किसी ने कहानीकार के रूप में स्थापित हो चुकने पर कविता की तरफ इस तरह की रूचि दिखाई हो ।[2]

---

1. हंस - अगस्त-सितम्बर, 1997 - पृ.सं. 123
2. कहानी : स्वरूप और संवेदना - पृ.सं. 46

राजेन्द्र यादव के अनुसार कविता को सबसे बड़ा खतरा संगीत से है, संगीत को कविता से । ... हमारे भक्त कवि स्वयं संगीतज्ञ भी थे, और संगीतज्ञ कवि । वे एक ओर कविता में संगीत "स्मगल" करते थे तो दूसरी ओर संगीत में कविता । "पर्सपैक्टिव" या परिदृश्य बोध के आधार पर इसे "सिन्थैसिस" भी कहा जा सकता है और "ऐडल्टरेशन" भी । आज का कवि संगीत बद्ध कविता को कविता मानने को तैयार नहीं है । अपनी नवीनता और पुरानी एकरसता के बीच यह मिलावट शुरू में भले ही ताज़गी, खूबसूरती और प्रभावोत्पादकता का आभास या चमत्कार दे, लेकिन शीघ्र ही खतरे भी सामने आने लगते हैं ।[1]

"नयीकहानी" पर विचार करते हुए राजेन्द्र यादव ने कविता के संदर्भ में भी अपनी कुछ विचारणीय स्थापनाएँ रखी हैं । कविता के संदर्भ में उनके विचार पक्षपातपूर्ण जान पड़ते हैं । उन्होंने तटस्थ होकर प्रायः कहानी की वकालत की हैं । अनेक स्थानों पर तो उन्होंने कविता के खारिज करने की घोषणा भी की है । जो निस्संदेह न्यायसंगत नहीं है । उन्होंने जिस ढंग से कविता को खारिज करने की बात कहीं, उसे आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने गलत बताया और कहा कि नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल इसी दौर के कवि है । कविता के अवसान की चर्चा फिजूल है ।[2]

राजेन्द्र यादव कहते हैं कि साहित्य के प्रगतिशील युग में, एक वर्ग को केवल परिवेश दिखायी देता था, दूसरा वर्ग इस परिवेश से अपरिचित था । जीवन से अपरिचय की मजबूरी इस वर्ग के लेखकों की अभिव्यक्ति को कविताओं तक ही बाँधे थी, और तरह-तरह के रूपकों से वे अपने अस्तित्व की व्याख्या करते थे ... कोई अपने को "काठ का आदमी" कहता था तो कोई "भूस भरा पुतला" महसूस करता था, किसी को "रथ का टूटा पहिया" कहकर अपने को

- -

1. कहानी : स्वरूप और संवेदन - पृ.सं. 99
2. हंस - अप्रैल, 2000 - पृ.सं. 83

महाभारत की गरिमा में रखने का रोमांटिक गौरव प्राप्त होता था तो किसी को अपनी शक्ल दीवार पर चिपके कागज के पोस्टर-जैसी लगती थी। बिना किसी बाहरी, या वास्तविक भीतरी संघर्ष, हलचल में हिस्सा लिए अपनी ही घुटन में व्यर्थ और अस्तित्व की अर्थ-हीनता के अहसास के मारे इन कवियों को अंधे-कुएँ, पीछे छूटी केंचुल, तट पर छोड़े नये घोंघे- सीप, अंजुरी से सरकती रेत इत्यादी की उपमाएँ ही सबसे अधिक याद आती थी। कितनी दिलचस्प बात है कि लेखकों के पहले वर्ग ने अपनी व्यक्तित्व-हीनता से उबकर वास्तविक व्यक्तित्व की खोज में प्रयत्न किये, जबकि यह दूसरा वर्ग व्यक्तित्व (या अस्तित्व?) की सुरक्षा का नारा लेकर आया और धीरे-धीरे अपना व्यक्तित्व ही खोता गया। लघु - मानव बौना होते -होते अन्तर्धान हो गया और रह गया रूप सम्बन्धी आग्रह, रूपक-नुमा तर्क। आज भी अगर इन विभिन्न कवियों की आठ-दस कविताएँ एक साथ, बिना किसी का नाम दिये रख दी जायें, तो यह निश्चयपूर्वक बता पाना मुश्किल हो जायेगा कि किन कविताओं का कवि कौन है? जबकि इस पीढ़ी के किसी भी प्रमुख कहानीकार का नाम, केवल कहानियाँ पढ़कर प्रबुद्ध पाठक आसानी से बता सकेगा। क्योंकि हममें से हर कहानीकार ने अपने परिवेश को अपनी तरह ग्रहण किया और अभिव्यक्ति दी। हर व्यक्ति को अपनी अनुभूतियाँ अछूती और नयी लगती है - उन्हीं का आन्तरिक दबाव अभिव्यक्ति के लिए कला की कोई विधा खोजने को प्रेरित करता है। लेकिन जीवन, या अधिक सही कहा जाय तो, परिवेश के सम्पर्क के बिना ये अनुभूतियाँ वैयक्तिक, व्यक्तिगत, अकेली, आत्यन्तिक और विलक्षण होती हैं और इस इकलौतेपन (यूनीकनेस) को ही यह आत्म-सजग सेल्फकान्शस, प्राणी महत्वपूर्ण (सिग्नीफिकैण्ट) और ताजा भी मान लेता है। चूँकि कहानी में अनुभूतियों को जीवन-बिम्बों में ही पाना होता है, इसलिए

समय-समाज परिवेश से बँधे रहकर ही ये व्यक्ति-अनुभूतियाँ महत्वपूर्ण और ताज़ा हो सकती हैं। कहानी की बारह-खड़ी ही अधिक ठोस और व्यवहारिक जीवन बिम्बों और स्थिति-खण्डों से बनी है, इसलिए वहाँ सूक्ष्मता, सांकेतिकता और लाक्षणिकता चाहे जितनी आ जाये, "हवाईपन नहीं आ पाता, नहीं आना चाहिए। कहानी के चित्र और बिम्ब विषय भी होते है और अभिव्यक्ति भी। ये अनुभूतियों के उत्स, अनुभूतियाँ-स्वयं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के साधन प्रभाव, परिणति, सभी कुछ एक साथ है। यह प्रकृति कविता की प्रकृति से मूलत: भिन्न है।[1]

राजेन्द्र यादव मानते हैं कि : कविता की प्रकृति में ही आत्म-सम्बोधन है। अपने आप तथा अभिव्यक्ति के माध्यम के अतिरिक्त, इस स्थिति में कवि या तो पाठक जैसी किसी तीसरी सत्ता के अस्तित्व से ही अनेक शब्दों में इन्कार करता रहा है, या यह सत्ता, पुराने काव्य संस्कारों में छूटने और नये काव्य-संस्कार ग्रहण करने की खींच तान के बीच ही भटकती और हरसमय एक तीव्र आत्म-विश्वास हीनता से ग्रसित रही है। अपेक्षित ग्रहणशीलता हीन होने या अपने अस्तित्व हीन होने का बोध पाठक को कवि की रचना-प्रक्रिया में प्रवेश नहीं पाने देता, कहीं रचना का हिस्सेदार नहीं रहने देता और वह हमेशा अपने को बाहरी या फ़ालतू - बिना - टिकट तमाशा देखनेवाले की आशंका से घिरे पाता है। बीच बीच में, प्रतिभाशाली" कवियों द्वारा अपने हीन स्तरीय होने पर गालियाँ सुनकर अपने को और भी बेचारा महसूस करता है कभी कोई बात पल्ले पड़ जाती हैतो अपने को आवश्यकता से अधिक सन्तुष्ट आह्लादित अनुभव करके "प्रतिभा की माहनता" से आंतकित हो लेता है, जो कुछ हाथ आता है उसे ही अतिरिक्त गद्‌गद् गहराई से समझने की कोशिश करता

- -

1. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 45

है । इधर इस तीसरे व्यक्ति - यानी पाठक के न होने की स्थिति को कवि चिन्ता या दुःख का विषय नहीं मानता । वह उसके होने का या सह-भोक्ता हो - पाने को कला की अनिवार्यता भी नहीं स्वीकारता। मैं यहां उसकी प्रतिभा या कला-दक्षता में सन्देह न करके एक सचाई की ओर ध्यान खींचूँगा अनुभूति के स्तर पर व्यक्तिगत कलाकार, अभिव्यक्ति के स्तर पर व्यक्तिगत ही रह जाता है और "कालोह्ययनिरवधि र्विपुला च पृथिवी" की छलना में सन्तोष खोजता है । -[1]

राजेन्द्र यादव का उपर्युक्त आक्षेप किस हद तक कविता के प्रति उनके दुराग्रह से प्रेरित है इसे समझने के लिए बीसवीं शताब्दी में हमारी भाषा के एक महत्वपूर्ण कवि रघुवीर सहाय की एक पूरी कविता को उद्धृत करना अनिवार्य है -

सन्नाटा छा जाये जब कविता सुनाकर उठूँ
वाह-वाह वाले निराश हो घर जायें
घर जाकर मेरी कविता सुनें जैसी उन्हें याद रह जाये
वैसी सही, कोई हरज नहीं -

सन्नाटा छा जाये मैं जब कविता सुनाकर उठूँ
अगर एक दो शब्द वे अपने मन से जोड़ भी दें
कोई हर्ज नहीं मगर उन्हें लगने लगे घटक शब्द
कहीं गलत जुड़ गया और वे सोचते रह जायें
देर तक, देर तक क्या है वह :
और जब याद आ जाये तो उसको निकाल दें
मेरी कविता से
फिर लम्बी सांस सन्तोष की लें ।
उधर सभाकक्ष में कोई

---

1. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 46

दोहराता हो बार बार कवि अपनी पंक्तियाँ।सच तो यह है कि यह कविता हिन्दी कविता की वर्तमान स्थिति में एक रचनाकार के सेल्फ-टार्चर और एक लाचार उत्सर्ग के अजीब से मिश्रित अवसाद की अभिव्यक्ति है। एक ऐसे समय में जब अपने पाये हुए सच को अपने लिखने-पढ़ने की दुनिया से बाहर आकर समाज के औसत पाठक से पुष्ट कराने की संभावनाएं निरन्तर धूमिल होती जारही हो, एक विशाल पाठक संख्या का आग्रह रखना कहा तक संगत है ? क्या ऐसी अपेक्षा रखते हुए हम मौजूदा सामाजिक संरचना के जटिल ढाँचे को अनदेखा नहीं कर रहे ? 20वीं सदी की शुरूआत में यूरोप में विकसित हुए उन आवाँगार्द कवियों - कलाकारों के साहस के बारे में आप क्या कहेंगे, जिन्होंने पूंजीवाद की विकसित अवस्था में बुर्जुआ समाज की कला-रूचियों पर हमला बोला था और "इन्स्टीट्यूशनल आर्ट" के खिलाफ लडते हुए कला की एक लगभग पाठक-विहीन, दर्शक-विहीन नियति स्वीकार की थी। यह निर्णायक दौर था। जिस समाज में "वास्तविकता" का अर्थ भद्रलोक की "वास्तविकता" रह गया था। जहाँ कला के निर्माण, वितरण और आस्वाद के धरातल बुर्जुआ समाज तय कर रहा था, वहाँ कला का "वास्तविकता" से अलगाव और कला की स्वायत्तता के लिए आग्रह क्या एक "डिफेंस मैकेनिज्म" नहीं था ? मूल प्रश्न उस साहस और स्वाभिमान का है जो कई बार इतिहास के एक दौर में भले ही आपको एकांगी बना दे, आपकी कला को एक अन्धी गली में पहुँचा दे पर फिर उसी में से एक अगली पॉजिटिविटी की शुरूआत होती है।[1]

रघुवीर सहाय ने एक स्थान पर लिखा है कि -कविता जिन चीजों को बचा सकती है उनको पहचाने के लिए आप मुक्त हैं पर अन्ततः वे वहीं

- -

1. कविता की संगत - पृ.सं. 29

होंगी जो कि आदमी को कहीं-न-कहीं आजाद करती है" वस्तुतः रघुवीर सहाय की इस टिप्पणी के कई अर्थ निकलते हैं । एक एक ऐसे समय में जब समाज को बनाने या बिगाड़ने वाली ताकतों के सम्मुख कविता किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर पा रही है, कविता का अपने समय के हालात का गवाह होना ही शायद कविता लिखने वाले और कविता पढ़ने वाले को एक हद तक मुक्त करता है । हम अच्छी तरह जानते हैं कि दृष्टिहीन हो जाने, भूल जाने या चीज़ों को विस्मृत करने की हमारी क्षमताएँ अपरम्पार हैं । हमें बार-बार खुद को यह याद दिलाना पड़ता है कि इस दुनियां की वास्तविकता क्या है, कि हमारी आँखों के आगे सचमुच क्या घट रहा है । हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं जब दमन, शोषण, अत्याचार और हिंसा के रूपों का इतना विकास परिमार्जन और संस्थानीकरण हो चुका है कि जब तक आप इनकी व्याख्या नहींकरते तब तक ये अपने असली रूप में दिखाई भी नहीं पड़ते । हमारे समाज में अत्याचार अन्ततः एक परिभाषा का मामला बनकर रह गया है । उसका एहसास, विश्व के बारे में हमारी जो दृष्टि बनती है उस पर निर्भर करता है । आप अपने नजरिये को बदलें तो कल तक जो चीज़ें आपको स्वाभाविक और कानून सम्मत दिखाई पड़ती थीं, वे आज क्रूरता और परपीड़न के अहसास की प्रतीति कराती हैं । हजारों लाखों लोग अपने घर-बार, अपनी जमीन, अपनी परंपरा, अपनी संस्कृति से उजाड़ दिये जाते हैं । वहाँ एक बड़ा बाँध या संयंत्र बनता है और हमारे समय का संगठित सच कहता है कि यह विकास है । सवाल यह है कि आप सच को कहाँ से खड़ा होकर देखते हैं । हमारे समय में कविता की गवाह बनने, याद रखने और दर्ज करने की शायद एक नयी तरह की भूमिका उभरी है ।"[1]

- -

1. कविता की संगत - पृ.सं. 34

राजेन्द्र यादव कहते हैं कि नयी कविता के कवियों का कहानी की ओर आना अपनी कला की इस सीमितता और अक्षमता के तीव्र अनुभव का ही परिणाम है । कवि पलायन की स्थिति में ही कहानी की ओर आता है, अपेक्षाकृत अधिक समर्थ और पूर्ण माध्यम और युग के यथार्थ की अभिव्यक्ति की खोज़ उसे कहानी की ओर जाने को मजबूर करती है । उपर्युक्त बात का आधार उन्होंने केदारनाथ सिंह के इन विचारों से लिया है । यदि नये कवि की केन्द्रीय मनोदिशा की व्याख्या की जाय तो वह एलियट-पाउण्ड आदि कवियों की अपेक्षा, काफ्का, क्रैझत आदि गद्य लेखकों के "मूड" के अधिक निकट पाया जायेगा। यही कारण है कि उसकी कविता आधुनिक उपन्यास की अनेक विशेषताओं को अपने भीतर समोती चली जा रही है .. शायद आज के तनावपूर्ण नागरिक जीवन को उसकी निकटतम भाषा में व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक था कि कविता को आधुनिक उपन्यास की अपेक्षाकृत ठोस भूमि पर उतारा जाय और यदि नया कवि अपने युग के काव्यादर्शों से हटकर काफ्का और क्रैझत की गद्यात्मक मनोभूमि के निकट पहुँचने का प्रयास कर रहा है तो इसे कविता का अन्यथाकरण नहीं, बल्कि उसके काव्यात्कम विकास की स्वाभाविक दिशा ही मानना चाहिए । रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और कुछ दूसरे नये कवियों की कविताओं को पढ़कर हम अपने को जिस परिवेश के बीच पाते हैं, उसकी ऐतिहासिक जटिलता और वस्तुगत रहस्यमयता का निकट सम्बन्ध यदि किसी के साथ जोड़ा जा सकता है तो वह अज्ञेय और शमशेर की कविताओं के साथ नहीं, बल्कि "लन्दन की एक रात" (निर्मल वर्मा) और "हत्यारे" (अमरकान्त) जैसी कथा कृतियों के साथ होगा ।"[1] लेकिन यह पलातक अपने साथ, व्यक्तिगत अनुभूतियों, धुंधली सी स्यानी मनस्थितियों और आरोपित प्रतीकों की इन्द्र- धनुषी भाषा लाना नहीं भूलता । आदत से मजबूर, यहाँ आकर वह (कविता के सारे अनु-शासन भूलकर) कहानी में ही खुलकर कविता करने लगता है । परिणामतः कहानी

---

1. धर्म युग - 4 जुलाई, -65

की प्रकृति में आन्तरिक परिवर्तन या मौलिक प्रयोग की अपेक्षा वह गतिहीन अनुभूति के अभिव्यक्ति संकट का वही घटाटोप कुछ समय तक बनाये रखने में सफल हो जाता है और सारी कथा-चेतना को विषयान्तरित करने की चेष्टा करता है। उदाहरणार्थ अज्ञेय, रघुवीर सहाय, श्रीकांत, सर्वेश्वर की कुछ अपवाद-स्वरूप सशक्त कहानियाँ एक और रोचक अध्ययन प्रस्तुत करती हैं कि किसतरह किसी विधा की परम्परा और विषय की माँग कभी-कभी रचनाकार की सारी सजगता और सेन्सर के बावजूद अपने को स्थापित करती है और जयशंकर प्रसाद जैसा व्यक्ति अपने सारे संस्कार छोड़कर "गुण्डा" जैसी कहानियाँ लिखता है। विधा अपने स्रष्टा-व्यक्तित्व के बावजूद अपने को "एसर्ट" करती है इसका दूसरा उदाहरण शमशेर हैं। उनकी उर्दू और हिंदी कविताएं दो अलग विधा-संस्कार सामने रखती है जो एक दूसरे को छूकर भले ही निकल जाये, लेकिन हैं अपनी-अपनी परम्परा में ही। हिन्दी कहानी की स्वस्थ धारा ने कवि कथाकारों को अनेक बार अपने से अलग हटने को मजबूर किया हो कथाकार वेशी इन कवियों के जादू में कहानी भटक जरूर जाती है, लेकिन कुछ समय बाद ही उसे अपनी उन मूल समस्याओं से जूझना पड़ता है, जिन्हें वह बिना सुलझाये छोड़ आयी थीं। हो सकता है, कवियों को भी अपने असली मोर्चे पर उसी प्रकार लौटना पड़ता है।[1]

कहानी और कविता के अन्तर को दर्शाते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं "एक युग-विशेष की संवेदना कभी कविता के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, कभी कहानी के माध्यम से प्रश्न संवेदना का है - यह दलील उन्हें कई कारणों से संगत नहीं लगती। साहित्य के इतिहास में कवि ही कहानी या नाटकों की तरफ क्यों आये हैं - संवेदना की किसी भी स्थिति में कथाकार ने कविता

---

1. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 47

और मुड़ना क्यों आवश्यक नहीं समझा । उनका मानना है कि कहानी और कविता की मूल प्रकृति में ही अन्तर है । जो मनस्थिति सम्पूर्ण कविता के लिए पर्याप्त है, वह अधिक से अधिक कहानी के पूरे फ्रेम में एक स्थिति भर हो सकती है, या विवरण का एक डिटेल । इस मौलिक भेद को न समझकर कहानी में भी जब अभिव्यक्ति के संकट और प्रयत्न की विधा के रूप में देखा जाताहै तो वहीं कवि मनोवृत्ति प्रकट होती है जो अनुभूति को सम्पूर्ण, स्वयं सत्य, स्थिर मानती है और अभिव्यक्ति के विभिन्न उपादान चाहती है । अनुभूति के साथ उसका परिवेश और अभिव्यक्ति के साथ उसका पाठक-कहानी कला के तीन आयाम हैं, क्योंकि वह आत्म सम्बोधन नहीं, दूसरे के लिए संबोधन है । अतः झगड़ा वहाँ इस तरह नहीं होता कि अनुभूति को किन अप्रस्तुतों प्रतीकों या भाषा-चित्रों से अभिव्यक्त किया जाय कि बाहर खड़ा एक फालतू आदमी उसका अनुमान करके रस ले ले, बल्कि समस्या वहाँ यह होती है कि अनभूति और परिवेश दोनों को किन सार्थक चुने हुए बिम्बों, घटनाओं और स्थितियों द्वारा जीवित मुहावरे में अनुवादित सम्प्रेषित कर दिया जाये कि पाठक की चेतना का ही अंश बन सके, तादात्म्य या साधारणीकरण पा-सके, और पाठक उस अनुभूति का हिस्सेदार होकर उसे अपनी संवेदना का एक ही अंग बना ले - उस जीवन को पुनः राग-बोध के स्तर पर ले । यह अधिक मूर्त विधा है. और वहाँ अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने की प्रवृत्ति है । कविता की प्रकृति शायद उलटी है । कवि जब एक बिम्ब या प्रतीक का दुबारा प्रयोग करता है तो वह उसका अर्थ निश्चित करताहै - कहानीकार जब ऐसा करता है तो अपने विषय को दुहराता है । कवि दूसरों के प्रतीक, बिम्बों का उपयोग करके भी अपनी मौलिकता बनाये रख सकता है ।[1]

---

1. एक दुनिया समानान्तर - पृ.सं. 49

राजेन्द्र यादव के उपर्युक्त मंतव्यों से यह स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार कविता पाठक से दूर होती जा रही है और उसके पास अनुभूति को अभिव्यक्त करने के साधन सीमित है । जाहिर है इसी कारण कविता के पाठकों में भी-भारी कमी आयी है । प्राय: आज की कविता पाठक की समझ से दूर होती है । प्रसंगवश विजय मोहन सिंह का स्मरण आना स्वाभाविक है जिन्होंने लिखा है - "यह भी सही है कि आजादी के ठीक आस-पास कविता और उस क्षेत्र की कार्यकारी प्रतिभाओं का जैसा बोलबाला और शोर था वह तुलनात्मक तौर पर आज कम हुआ है, इसके विपरीत कथा - प्रतिभाओं का उफान और उभार उत्तेजक उम्मीदों से जुड़ता चला गया है । इक्कीसवीं सदी उपन्यास की सदी होगी कारण बहुत साफ़ है । कविता की अपनी जैसी लम्बी परम्परा है, वैसी ही सघन और दयनीय उसकी रीतियाँ और रूढ़िया भी है । निराला जैसों की याद करें तो उन्होंने कविता को जैसा खुला और फैला आकाश मुहैय्या कराया था, बाद के दिनों में अद्वितयता और विशिष्टता के नाम पर उस आकाश का निरन्तर सिकुडना और रीतिबद्ध होते चले जाना, कवियों-नागार्जुन केदार, शमशेर जैसे दो चार अपवादों को छोडकी अनुभव पंगुता और सर्जनात्मकता कायरता तथा उनके वैचारिक अंगरक्षकों की तरह पेश आनेवाले कथित आलोचकों ने जो माहौल तैयार किया, उससे जब, भयानक एकरसता और व्यक्तित्व-शून्यता ही पैदा हुई । लोक के अनुभवों की वेदना और उसकी उम्मीदों के उल्लास का जैसा युगन्द्ध और प्रतिस्पर्धी उत्तेजक बिम्ब उभरना था वह दुष्यन्त कुमार और अदम गोंडवी जैसे कवियों के अभिव्यंजनात्मक साहस में तो दिखा पर उन कथित यशस्वियों में कदाचित नहीं ही, जो प्रतिभा की पहचान का पैमाना पुरस्कारों की लूट से तय कराने की मुहिम में मशगूल रहे । आजादी के ठीक बाद कविता को बौद्धिकतावाद से जोड़ने वाले या फिर नेहरू शासन के बाद के बरसों में कविता की जनवादी कोशिशों में जैसा विकराल ठसपन और वैचारिक

संकीर्णता आई, उससे हिन्दी क्षेत्र का न केवल परम्परागत काव्यरसिक बल्कि आधुनिक पाठक समाज भी कम मायूस नहीं हुआ है ।[1]

राजेन्द्र यादव ने कविता को सवर्ण वर्चस्ववाद का हथियार माना है । उनके ही शब्दों में - "साहित्य के क्षेत्र में सवर्ण वर्चस्ववाद का एकमात्र हथियार कविता, उसका सौन्दर्यशास्त्र और उसे केन्द्रीय अभिव्यक्ति मानने का बौद्धिक अहंकार रहा है । यहाँ कविता और इसकी भाषा बिल्कुल भी वह नहीं है । यह परोपजीवी मध्यवर्ग की देश-विदेश के उपकरणों से सम्पन्न "सॉफिस्टिकेटेड" भाषा है । बाहर या जिस कुलीन संस्कृति से वह ली जाती है, लौटकर उसे ही सम्बोधित होती है । चूंकि इकलौते कवि के प्रशिक्षित संस्कारों के सिवा इसकी जड़ें कहीं नहीं होतीं इसलिए दिन-दिन इसे अपने ही दुहराव या शब्दों के अकाल में सांस लेनी पड़ती है । अगर देशी-विदेशी पुरस्कारों, अनुदानों या ऐसे ही साधनों के आक्सीजन से इसे जीवित न बनाये रखा गया होता तो शायद यह अभी तक अजायबघरों और संग्रहालयों की खूबसूरत पारदर्शी पेटियों में पहुँच चुकी होती । इसके शास्ता बोलियों की ऊर्जा-शक्ति और बार-बार नई होते जाने की क्षमता की मौखिक तरीफ चाहे जितनी करें मगर कविता उसे ही मानते हैं जहाँ एकान्त रसास्वादन का बौद्धिक आनन्द है - यानी नागार्जुन, त्रिलोचन नहीं - कवि अज्ञेय-विनोद कुमार शुक्ल ही है ।[2] इसी क्रम में एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि - "तुलसीदास उच्च वर्ग से है - चाहने पर हर सुख-सुविधा उन्हें सुलभ हो सकती है, मगर वे जानते हैं कि यह सब माया है और भक्ति की राह से भटकाने वाली मरीचिका है । उनका दुख-भूख, गरीबी, माँग के खाने या मसीत में सोने से पैदा नहीं हुआ है - ये सब तो उनके जीवन संदर्भ है, कबीर के वर्ग की तरह नियति नहीं। भौतिक समृद्धि से उत्पन्न मोह-भंग उनकी आँखे खोलता है । व्यर्थता-बोध उन्हें

- -

1. साक्षात्कार - मार्च 2000-243, - पृ.सं. 97
2. हंस - फरवरी, 99 - पृ.सं. 5

राम की शरण में ले जाता है । उनके सामने राम की मूर्ति भी है, मंदिर भी है और उनकी लीलाओं के आयोजन भी । वे रामलीला खुद ही नहीं बखानते, उसे एक सामाजिक उत्सव का रूप भी दे सकते हैं । डॉ.धर्मवीर के अनुसार (कबीर के आलोचक) निर्गुण होना कबीर जैसों की मजबूरी है ... जिन्हें न शास्त्र पढ़ने दिया जाता हो, न मंदिरों में प्रवेश की अनुमति हो, जिनसे मूर्ति के सामने झूम-झूमकर गाने का सुख छीन लिया गया हो .. उन्हें तो निर्गुण होना ही है । भुख-दुख गरीबी के बीच वे तो उसी निराकार सत्ता के सामने गिड़-गिड़ा सकते थे, वहीं बराबरी और न्याय की गुहार कर सकते थे । "जात-पाँत" नहिं कोई, हरिको भजे सो हरि को होई"कहकर या ब्राह्मण को उच्चवर्ग का होने के नाते किसी और रास्ते आने की चुनौती देकर .. सब कुछ मिलने की निरर्थकता और कुछ भी न मिल पाने की अर्थहीनता में आधारभूत अंतर है । जो कुछ मेरा नहीं है उसके होने न होने से मुझे क्या अन्तर पड़ता है - बल्कि वह है ही नहीं, है भी तो व्यर्थ है । यह वंचित आदमी का "वैराग्य" है । कबीर ऐसे ही वैरागी है । इसलिए उनके यहाँ न कीर्तन करने वालों की आत्म-विस्मृति है .. न कव्वाली गाने वाले सूफियों की मस्ती .. आज की भाषा में वे मूलत: समाज-समीक्षक है ।[1]

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि - साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में बोर्जुआ वर्ग ने जो "अपना" सौंदर्यशास्त्र विकसित किया है वह और भी अधिक जड़ और यथास्थितिवादी है । विश्व साहित्य के घनघोर अध्ययन के बाद उन्होंने जो कला-मूल्य या साहित्यिक आस्वाद बोध अर्जित की है उसे वे लगभग अपरिवर्तनीय और शाश्वत मानने की द्विधाहीन बौद्धिकता में जीते हैं । उदाहरण के लिए कहानी, कविता, उपन्यास की कलात्मकता को लेकर उनके मन में कुछ

- -

1. हंस - अप्रैल, 1998 - पृ.सं. 5

मानक मूल्य है, भाषा से लेकर कथन-भंगिमा तक उनके कुछ पैमाने हैं, अगर रचना उन पर खरी उतरती है तो महान है वर्ना फूहड़, अधकचरी इत्यादि है । वे कभी यह प्रश्न नहीं करते कि क्या उनके ये पैमाने शाश्वत हैं ? क्या उनसे अलग साहित्यिक उत्कृष्टता का कोई आधार ही नहीं है ? वे यह भूल जाते हैं कि अभी सौ साल पहले तक उस काव्य रचना को फूहड़ ही समझा जाता था जिसमें रस -अलंकार, नायिका भेद, छंद या जगण-मगण का सम्यक निर्वाह न हो - और वहाँ सबसे ज्यादा गैर-मौजूं भी खड़ी बोली । छायावादी युग में हम देखते हैं कि वह सारा काव्य शास्त्र अप्रासंगिक हो जाता है और प्राचीन भारतीय रस-मीमांसा न उस कविता कोसमझ सकती है, न नाटक को । छायावाद की जड़े वस्तुत: योरोपीय रोमांटिक कविता और काव्यशास्त्र में हैं - जिन्हें समझने के लिए पश्चिमी पुनर्जागरण की पीठिका को समझना, भारतीय काव्यशास्त्र के मुकाबले ज्यादा जरूरी है । रामचंद्र शुक्ल कबीर और संत साहित्य के जिन कवियों को अपनी अभिजात मानसिकता के चलते फूहड़, गंवार, खिचड़ी भाषा के कवि कहते हैं और उनके सुने सुनाए ज्ञान को, बाकायदा कुलीन पाठशालाओं से प्राप्त विद्वता के मुकाबले लतियाते हैं, वहीं कबीर आगे चलकर निराला-रवीन्द्रनाथ, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल जैसों के दिशा-दर्शक बनते हैं । अभी बहुत दिन नहीं हुए छायावादी संस्कारों में पले कवियों, को, प्रगतिवाद या नई कविता युग की कविताएं व्यर्थ और बकवास लगती थी ।[1]

निस्संदेह राजेन्द्र यादव ने कविता के संदर्भ में अपने उपर्युक्त विवेचन में कविता से जुड़े अनेक अनछुए विचारोत्तेज सवालों को उठाया है। परन्तु उनके विचारों एवं स्थापनाओं से गुजरते हुए कई बार ऐसा लगता है कि उनमें एक गम्भीर विरोधाभास है । इस दिशा में उनके सवालों को समझना उतना

- -

1. हंस - नवम्बर, 1997 - पृ.सं. 6

ही जटिल है, जितना कविता को समझना। परन्तु यह तो सच है कि आज कविता की परिधि सामाजिक परिवेश से काफी दूर है । और कविता पाठक समाज से दूर होती जा रही है । आज कविता उस ऊँचाई पर नहीं है जहाँ उसे होना चाहिए । निस्संदेह सामाजिक परिवेश से जुड़े बिना कविता के लिए शीर्षस्थ स्थान पाना संभव नहीं है । इस के लिए कविता को अपने परंपरावादी एवं रूढ़िबद्ध पैमानों को बदलना होगा ।

कुलमिलाकर हम कह सकते हैं कि साहित्य के मूल्यांकन का एक मात्र आधार कविता को मानना राजेन्द्र यादव को स्वीकार्य नहीं है । चूंकि यह तीन हजार सालों से हो रहा है इसलिए आज भी सारे साहित्य का मूल्यांकन और कला-संवेदना का निर्धारण सिर्फ कविता से हो और वह भी एक विशेष तरह की [चाहे तो उसे भारत-भवन-घराने की कह लें] कविता से हो, यह बात शुरू से उनके गले नहीं उतरती - उस समय तो और भी जब वह प्राचीन और नवीनता के रहस्यवाद की गिरफ्त में फंस चुकी है और क्रमश: इतनी अप्रासंगिक हो गयी है कि सिर्फ राज्य-संरक्षण या आपसी बंदरबाट, पुरस्कारों के ऑक्सीजन पर ही सांस ले पा रही है । ऐसे में साहित्य उन्हें इंटेन्सिव-केयर-कक्षों से बाहर और वह भी कथा-साहित्य में नजर आता है ।

राजेन्द्र यादव की कविता विषयक मंतव्य में चाहे जितनी भी विसंगतियाँ हो पर यह सच है कि हिन्दी में आधुनिक समय में हम यदि नागार्जुन जैसे एकआद कवि को अपवाद के रूप में छोड़ दे तो एक समूचे जीवन के समासिक अनुभव को लिखने वाले कवियों की संख्या बहुत कम है । यह बात एक हद तक कथा-साहित्य पर भी लागू होती है लेकिन कविता की तुलना में वहाँ स्थिति थोड़ी बेहतर जरूर है ।

आत्मकथा :

"आत्मकथा" साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है । जब लेखक अपने जीवन की घटनाओं के बारे में स्वयं लिखता है तो उसे सामान्यत: आत्मकथा का नाम दिया जाता है । आत्मकथा लेखन एक जटिल एवं साहसिक कार्य है । इसीलिए साहित्य में आत्मकथाओं पर काफी कम लिखा गया है । औपन्यासिक रूप में आत्मकथाएँ प्रचलन में आ रही है ।

आत्मकथा गद्य का वह रूप है जिसमें प्राय: लेखक व्यक्तिगत जीवन का विवेचन विश्लेषण नि:संकोच रूप से करता है इसके साथ ही वह मानसिक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का विवेचन भी कलात्मक रूप से करता है । "आत्म चरित और आत्मचरित्र हिन्दी में आत्मकथा के अर्थ में प्रयुक्त प्रारंभिक शब्द है और तत्पत: आत्मकथा से भिन्न है । एक सूक्ष्म अन्तर कदाचित यह है कि आत्म चरित कहलाने वाली रचना किंचित विश्लेषणात्मक और विवेक प्रधान होती है ।[1]

बृहद् हिन्दी कोश में आत्मकथा का विग्रह करके इस प्रकार अर्थ स्पष्ट किया गया है कि "यह आत्मन शब्द का समास में व्यवहृत रूप है जिसका अर्थ है अपना, निजका, आत्म का, मनका । कथा का अर्थ है जीवन-कहानी अत: आत्मकथा का अर्थ हुआ स्वलिखित जीवन चरित ।"[2]

मानवीकी पारिभाषिक कोश के अनुसार - "साधारणत: आत्मकथा में व्यक्ति के अपने अनुभव अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत होते हैं, पर कई कारणों से कभी-कभी ऐसा नहीं हो पाता ।"[3]

- -

1. हिन्दी साहित्य कोश - पृ.सं. 77
2. बृहद् हिन्दी कोश - पृ.सं. 23
3. मानविकी पारिभाषिक कोश - पृ.सं. 29

जाहिर है व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखित अपने जीवनका इतिहास "आत्मकथा" कहलाता है । इसका आधार सच्चाई होती है । आत्मकथा के मूल में कला का विकास महत्वपूर्ण स्थान रखता है । अपने जीवन की घटनाओं को लेखक परिस्थितियों, परिवेश और दृष्टिकोण के अनुसार ही अभिव्यक्त करता है । उसके सत्य का आधार उसकी भावना और अनुभूतियाँ होती है । आत्मकथाकार आत्मकथा के माध्यम से उसके अनुभवों को प्रस्तुत करता है । वह सामाजिक और तात्कालीन परिवेश से जुड़ा होता है ।

आलोचक राजेन्द्र यादव ने अपने लेखन में आत्मकथा के महत्व और उसके कम लिखे जाने के कारणों पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार बहुत पहले ही रचनाशीलता के बारे में प्रमाण और साक्ष्य नहीं मिलते और समकालीन लोग भारतीय "हिप्पोक्रैसी" {ढोंग} के शिकार हैं । जीवन की क्षुद्रता, क्षणभंगुरता - व्यक्तिगत अहं का निषेध और मैं किस लायक हूँ मेरा जीवन सचमुच इतना महत्वपूर्ण नहीं का "सांस्कृतिक" शील या "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना, के चिन्तन स्वरूप "तुलसी अब का होंइगे, नर के मंसबदार" की घोषणाएँ । सृष्टा का ब्रह्म की तरह अपने आपको रचना के पीछे छिपा देना, उसका हर कहीं और कहीं न होने का दार्शनिक तत्ववाद यानी रचनाकार को अदृश्य करके रचना को सामने रखने की औपनिषदिकता इत्यादि ... मगर जीवनियां या आत्मकथाएँ न होने के ये सारे तर्क राजेन्द्र यादव को सही नहीं लगते हैं । राजाओं ने यानी एक प्रभु-वर्ग ने कार्यों और विचारों के विवरण देते हुए अपने नामों के शिलालेख भी छोड़े हैं और जीवनियों या रासों-श्रृंखला के रूप में उनकी प्रशस्तियां भी कम नहीं है । ये तर्क उन पर लागू क्यों नहीं होते थे ? नतीजा यह क्यों न निकाला जाये कि राजा ही इतना महत्वपूर्ण होता था कि दरबारी रचनाकारों का सारा श्रेय या तो खुद ले, लेता था या जो दरबारी नहीं थे उन्हें गुमनामियत चुन लेने को मजबूर होना पड़ता था । वे राजा की बजाय उसे भगवान के नाम समर्पित कर देना बेहतर समझते थे ।

इसलिए जीवन-वृत और साक्ष्य राजाओं और साम्राटों के तो मिलते हैं, रचनाकारों के नहीं । या जो हैं भी वे इतने आधे-अधूरे, अप्रामाणिक और किंवदंतियों से भरे हैं कि वास्तविकता का पता ही नहीं चलता, जैसे "बावन वैष्णव की वार्ता" । "अर्धकथानक" एक मात्र आत्मकथा है जो सत्ता से अलग चार सौ साल पहले लिखी गई थी - हिन्दू नहीं जैन, परम्परा में ।[1] वस्तुतः आत्मकथा न लिखने का एक कारण रचनाकार द्वारा अपने व्यक्तित्व को अनुपयोगी समझना है । स्वयं के जीवनानुभवों को अनुपयोगी समझने की सोच के कारण ही पहले के रचनाकार अपने बारे में लिखने से परहेज करते रहे हैं ।

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि अक्सर उन्हें यह बात परेशान करती है कि साहित्य के क्षेत्र में हमारे यहां, विशेषकर हिन्दी में, न लोग अच्छी आत्मकथाएं लिखते हैं, न जीवनियां ऐसा क्यों है ? तथ्य वही होते हैं, घटनाएं नयी नहीं होती, रचनाएं सभी को सुलभ होती है - मगर एक ही व्यक्ति पर विदेशों में दर्जनों जीवनियाँ लिखी जाती हैं - व्यक्ति को देखने-समझने और व्याख्याओं के अपने अपने मौलिक दृष्टिकोण होते हैं और हर रचना अलग, स्वतंत्र या पठनीय हो उठती है । टॉल्स्टॉय, दोस्तोयेवस्की से लेकर हैमिग्वे जैसों की न जाने कितनी जीवनियाँ हैं जो व्यक्ति या समय को एक नितांत अनाविष्कृत अंर्तदृष्टि के साथ हमारे सामने प्रस्तुत कर देती हैं । शायद वहां व्यक्ति का जीवन एक ऐसी रचना के रूप में सामने होता है जिसे हर अलग समय में अनेक दृष्टियों से पढ़ा और समझा जा सकता है । अगर "रामचरितमानस" विभिन्न कालों और विभिन्न पाठकों के लिए नितांत अलग अर्थ रख सकता है और भक्त, कवि, प्राध्यापक, समाज-चेता या इतिहासकार, भाषाविद् दार्शनिक समय समय पर अपनी तरह उसे समझ समझा सकते हैं । तो स्वयं तुलसीदास का जीवन उस तरह का आधार क्यों नहीं हो सकता ? इतिहास और राजनीति में एक

- -

1. हंस - दिसंबर, 95 - पृ.सं. 4

नायक पर अलग-अलग अध्ययन आते ही हैं । अशोक, अकबर, शिवाजी, औरंगजेब, गांधी को हर इतिहासकार ने अपनी तरह समझा है ।[1]

उपर्युक्त संदर्भ में तर्क देते हुए राजेन्द्र यादव ने माना है कि - "एक तो लेखक स्वयं इतना आत्मग्रस्त होता है कि वह अपना जीवन छोड़कर दूसरे के जीवन में उतरने की जहमत क्यों उठायें ? करना ही है तो यह काम अध्यापक और कम प्रतिभाशाली लोग करें दूसरे, हो सकता है कि मुझे किसी और का जीवन उतना रोमांचक या प्रेरणादायक ही न लगे... हिन्दी-लेखक वैसे भी सुखी, सद्गृहस्थ किस्म का आत्मसंतुष्ट प्राणी होता है - उसके जीवन में ऐसा क्या असामान्य या अद्भुत है जिसकी तरफ विशेष ध्यान दिया जाये ? वह अपनी तरफ से किसी भी एडवेंचर, दुस्साहस या खतरनाक पहल से बचता है और सिर्फ शब्दों में नीत्शे की इस बात को पढ़ता है कि लेखक वहीं है जो "डेन्जरस लिविंग" जी सकता है, यह लेखक तो सिर्फ नौकरी, घर, बीवी, बच्चों के बीच संतोष से बैठा विश्वस्तरीय रचनाएँ बनाता रहता है, न अनुभवों के नवीकरण का झंझट, न अध्ययन का झमेला - जो कुछ था वह "जम जाने" के पहले हो चुका । जिसे अपने ही स्त्रोतों को समृद्ध करने की जरुरत न हो, वह क्यों दूसरे के जीवन में इतनी दिलचस्पी लेगा कि उसकी रचनाओं को पढ़े उस पर लिखे हुए को खंगाले, उसकी चिट्ठी-पत्री-डायरियों की छानबीन करे । जानकार और जरूरी लोगों से माथा फोड़े या दूर-पास के शहर-कस्बों की खाक छाने और तब फिर बैठकर उसकी जीवनी को अपनी समझ से लिखने-परिभाषित करने का आंख-फोड शीर्षासन करे ... इतने में तो वह अपनी ही कोई "कालजयी" रचना साहित्य की छाती पर रोप देगा । यह सब करे दूसरे दर्जे के लोग, लगाये पंद्रह-बीस साल, "आवारा मसीहा" लिखने में - जिनके अपने लिखने में न जान है न आग ।[2]

- -

1. हंस - मार्च, 1994 - पृ.सं. 5
2. हंस - मार्च, 1994- पृ.सं. 5

राजेन्द्र यादव लिखते है कि - उन्हें इन तर्कों में दम इसलिए नहीं लगता है कि जब एक उपन्यासकार अपने चरित्रों की परिकल्पना करता है तो उस पर सोचने में समय भी देता है । सामग्री भी जमा करता है और शायद कुछ पढ़ता या नोट्स भी लेता ही है । हो सकता है कि अपनी रचना का नायक वह स्वयं हो या उसके अन्य चरित्र, उनकी स्थितियां उसके अपने ही अनुभव - जगत से उठायी गयी हो, मगर इस सब पर वह आब्जेक्टिवली [आत्म-निरपेक्ष होकर] "मेहनत" तो करता ही है - यानी व्यक्तिगत को निर्वैयक्तिक बनाये बिना लिख पाना संभव ही नहीं है । यहां ऑब्जेक्टिव होने का अर्थ है - अपने को अलग या बाहर रखकर दूसरे की निगाह से देखना, स्वयं अपना दर्शक या साक्षी बन जाना, अपने से टूटने की यह प्रक्रिया ही संप्रेषणीयता या "दूसरों के साथ जुड़ने" की प्रक्रियां भी है । चूंकि यह "दूसरे" भी आपके भीतर से जन्म लेते हैं, इसलिए स्वयं आपके अंश होते हैं - आप स्वयं होते हैं - कहिए ऑब्जेक्टीफाइड - सैल्फ या सैल्फ्सेज ऑब्जेक्ट .. [निर्वैयक्तिक आत्मा या अन्य के रूप में आप] जिस लेखक में यह ऑब्जेक्टिविटी [अन्यीकरण] जितनी अधिक होगी और जो आत्म को अन्य में, या अन्य को आत्म में स्थानांतरित कर सकने की द्वंदात्मक को सक्षम होगा । वस्तुत: वह "परकाया" प्रवेश नहीं, अपना ही विस्तार या प्रक्षेपण होता है - अपने से अपने तक की यात्रा । कथा में प्रामाणिक चरित्रों की विविधता वस्तुत: इसी "ऑब्जेक्टिफिकेशन" [निर्वैयक्तिकरण] या आइडेंटिफिकेशन [साधारणीकरण] का परिणाम है । सारी विविधता और अंतर्विरोधों के बावजूद टॉल्स्टॉय का हर चरित्र ऐसा लगता है मानों लेखक स्वयं अपनी आत्मकथा लिख रहा हो ... पूरी डूब और ईमानदारी के साथ । और यहीं सवाल है कि अगर कथाकार अपने से बाहर के विविध चरित्रों को स्वयं अपने व्यक्तित्व के रसायन द्वारा अपना बना सकता है । तो उसे क्यों वास्तविक चरित्र में ऐसा कुछ नहीं मिलता जहाँ वह अपने आप को खोज सके .. दूसरे शब्दों में, किसी और या बड़े व्यक्तित्व को अपना नायक बना सके । कहा जा सकता है

कि वह बड़ा व्यक्तित्व पहले से ही इतना बना-बनाया और निर्धारित है कि उसे अपनी कल्पना या अनुभव के चरित्र की तरह तोड़ा-मरोड़ा और ढाला नहीं जा सकता । मगर दूसरे व्यक्तित्व के बन बनाये और दिये गये ढाँचे को सुरक्षित और प्रामाणिक बनाये रखने के बावजूद उसके उत्प्रेरक तत्वों, प्रयोजनों तथा व्यवहार के निजी इंटरप्रिटेशन की सुविधा तो आपके पास हमेशा ही है । यही इंटरप्रिटेशन या अपनी तरह दूसरे मंतव्यों और व्यवहार को समझना, आइडेंटिफिकेशन [तादात्म्य] और परिणामतः रचनात्मकता है । हर कला, प्रकृति नहीं, अपनी दृष्टि से रची गयी प्रतिकृति है । मगर मूल सवाल अभी भी वहीं बना है कि हिन्दी में क्यों किसी समर्थ कथाकार ने दूसरे नये पुराने साहित्यकार की न तो जीवनी लिखी न उसे आधार बनाकर किसी कथाकृति का सृजन किया ? बंगला में सुनील गंगोपाध्याय के देश में धारावाहिक प्रकाशित होने वाले नये उपन्यास के नायक रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, इसके पहले मैत्रेयी देवी के "न हन्यते" में भी रवीन्द्रनाथ ही नायक थे । विनोदिनी दासी, विवेकानंद, गिरीश घोष जैसे नायकों पर दर्जनों जीवनियाँ लिखी गई है । इसी तरह तिलक के जीवन परमराठी में गंगाधर गाडगिल का "दुर्दम्य" जैसा सशक्त उपन्यास और ज्योति बा फुले पर नाटक पिछले दिनों चर्चित हुए है ।[1]

हिन्दी में गिरिराज किशोर ने गांधी के जीवन पर आधारित "पहला गिरमिटिया" शीर्षक जो उपन्यास लिखा है उसे राजेन्द्र यादव ने औपन्यासिक जीवनी करार दिया है ।

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि हम हिन्दी भाषी लोग व्यक्ति पूजा और श्रद्धा के मारे हुए हैं, इसलिए बिना खलनायक के नायक की परिकल्पना नहीं कर सकते । हमारे पास या तो देवता होते हैं या राक्षस - सीधे, सपाट काले-सफेद .. गहरे अनुसंधान और वेधक जिज्ञासा के लिए जैसी बौद्धिक अश्रद्धा

- -

1. हंस - मार्च, 94 - पृ.सं.6

की जरूरत है, हम उससे डरते हैं । हम स्वीकार ही नहीं कर पाते कि बड़े से बड़ा व्यक्तित्व कमियों, कमजोरियों स्खलनों से ही अपनी शक्ति या ऊर्जा ग्रहण करता है । शायद इसीलिए महान होने के बावजूद जो व्यक्तित्व असुविधा जनक होते हैं, उन पर चुप रहना ही पसंद करते हैं - वर्ना क्या कारण है कि भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, राहुल, उग्र, भुवनेश्वर, अज्ञेय, राजकमल, रमेश बक्षी जैसे डायनमिक व्यक्तित्वों ने न किसी झकझोर देने वाली जीवनी को जन्म दिया न औपन्यासिक कथा रचना को .. पंतजी पर शांति जोशी, प्रसाद पर विनोद, शंकर व्यास, निराला पर रामविलास शर्मा, राहुल पर गुणाकर मुले, अज्ञेय पर रामकमल राय, प्रेमचंद पर अमृतराय और मदनगोपाल भारतेंदु पर राधाकृष्ण जैसों की तथ्यपरक जीवनियां राजेन्द्र यादव को याद हैं । वहाँ असुविधाजनक तथ्यों को दबाने की, या सही ठहराने की ही कोशिश अधिक है । वास्तविकता से सीधे मुठभेड़ करने का साहस कम । जिनके मन में प्राय: कभी किसी की जीवनी लिखने की बात आती भी है तो प्रतीक्षा करते है कि उनके दिवंगत हो जाने पर ही लिखेंगे । किसी भी जीवित व्यक्तित्व पर दर्जनों जीवनियां आयें, यह तो शायद हमारे यहां अकल्पनीय है । राम-वृक्ष बेनीपुरी ने रोज़ा लक्जम्बर्ग की ही नहीं, जयप्रकाश नारायण की जीवनी उनके रहते ही लिखी थी । बाद में राहुल जी ने पृथ्वी सिंह "आजाद" और चंद्रसिंह गढ़वाली की जीवनियां लिखीं । गांधी जी तो शायद इस क्षेत्र में अपवाद ही हैं, राबर्ट पेन से लेकर ब्रिटिश पत्रकार लुई फिशर तक किस-किस ने उनके जीवन काल में ही उन्हें गढ़नेवाले अंतर्सूत्रों को नहीं खंगाला 9 राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि जहाँ तक उनकी व्यक्तिगत रुचि का सवाल है उन्हें उन सबका जीवन अधिक आकर्षित करता रहा है जिन्होंने नीति, नैतिकता, धर्म, कानून के सांचों को बार-बार तोड़ा है - क्योंकि वे ही समाज को गति देने वाले लोग

हैं – जैसे क्रांतिकारी, विद्रोही, अधर्मिक और यहां तक कि कानूनी अपराधी भी .... सांचों को तोड़ने वाले लोग नये मूल्य चाहे न दे पायें, मगर स्थापित मूल्यों के अधूरे और अर्थहीन होने को जरूर उजागर कर देते हैं । दूसरे शब्दों में, उनके पुनर्मूल्यांकन की अनिवार्यता बनाते हैं । महान आत्मकथाओं या जीवनियों की ट्रेजडी यह है कि {चेखव के शब्दों में} उनके बचपन या "अबोध-काल" से ही "महानता" के ऐसे सूत्र या तो खोज लिये जाते हैं या स्थापित कर दिये जाते हैं जिनका आगे सिर्फ विकास और संवर्द्धन ही होता है । निर्धारित पटरियों पर गंतव्य तक पहुँचने वाली ट्रेन की तरह ..... ।[1]

राजेन्द्र यादव को अच्छी जीवनियाँ, आत्मकथाएं, डायरियां या आत्मवृत्त पढ़ने का शुरू से ही शौक रहा है – विशेष रूप से उनकी जिन्हें बागी या विद्रोही कहा जाता है वे कहते हैं कि अब तक की पढ़ी किसी भी पुस्तक से अधिक गहरा प्रभाव छोड़नेवाली लगभग वेश्या, अभिनेत्री, शराबी लिलियन रॉथ की "आइ विल क्राई टुमारो" का जिक्र मैं अकसर करता ही रहा हूँ, मरते हुए व्यक्ति को संजीवनी की तरह जिस दूसरी आत्मकथा का आग्रह मैं मित्रों से करता हूँ वह है हैनरी शैरियर की "पैपिलाँन" हत्या के आरोप में काले पानियों की सज़ा पाने से इंकार कर देनेवाला यह दुर्दांत व्यक्ति किन असंभव परिस्थितियों और दुर्भेद्य जेलों से बार-बार भागा और पकड़ा गया है, इसे पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं । संकल्प, साहस और सूझ के विस्फोटक अनाविल तत्वों से बना हैनरी अगर सचमुच हत्यारा भी रहा हो तो भी प्रणम्य है । जब समरसेट मॉम कहता है कि हर लेखक कहीं एक सिद्ध अपराधी की मानसिकता जीता है तो वह बहुत गलत नहीं था ..... [2]

---

1. हंस – मार्च, 1994 – पृ.सं. 7
2. – वही –

राजेन्द्र यादव सवाल उठाते है कि हमारे यहाँ ऐसा क्यों नहीं होता। उनका मानना है कि हो सकता है इसके पीछे वेदांती हिन्दू दृष्टिकोण हो। हमारे यहाँ मृत्यु या मोक्ष को लेकर जैसा "मुक्तिदायी उल्लास है। वैसा जीवन को लेकर नहीं। भौतिकता और जीवन के प्रति यह तिरस्कार, हमारी सारी दार्शनिक उदात्तताओं और महानताओं के बावजूद हमें मूलत: विरोधी, असामाजिक और अमानीय बनाता है, जो जीवन इतना घृणित, पतित, अस्थायी और माया-मोहमय है, उसके बारे में सोचना-लिखना लगभग धर्म के विरुद्ध है। इसके विपरीत पदार्थवादी दर्शन हमारे भौतिक और सांस्कृतिक विकास में अधिक सहायक रहे हैं, क्योंकि वे जीवन जगत से भागने के गुणगान कम करते हैं। उनका मानना है कि पदार्थवादी या ईश्वरीय सत्ता के अस्वीकार ने ही हमारे साहित्य, कला, विज्ञान और संस्कृतियों को मानवीय धरातल दिया है और मनुष्य को उसके केन्द्र में स्थापित किया। आत्ममुक्ति को नकार कर करुणा, सेवा, परोपकार की अवधारणाएँ दीं - यानी मनुष्य और समाज को अपना सरोकार बनाया। जीवन को उत्सव मानकर रस लिया।[1]

इसी क्रम में राजेन्द्र यादव कहते हैं कि उन्हें तो हाजी मस्तान, नटवर लाल, फूलन देवी का जीवन भी उतना ही आकर्षक लगता है जितना भारतेन्दु, चन्द्रशेखर, राहुल आदि का। यदि उनके पास सुविधाएं और क्षमता होती तो शायद वे किसी की जीवनी-लिखते या उनको आधार बनाकर उपन्यास की रचना करते - हर क्षण यह जानते और हीनता महसूस करते हुए भी हम और हमारी सोच अभी सार्त्र जैसों के पासंग भी नहीं है जहाँ मरे हुए बोदलेयर और जीवित जेने के जीवन पर अद्भुत अध्ययन दिये गये हों 2

- -

1. हंस - मार्च, 1994 - पृ.सं. 8
2. हंस -मार्च, 1994 - पृ.सं. 9

महिलाओं द्वारा आत्मकथा न लिखने पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव की सोच है कि - यहाँ एक आश्चर्य और भी है, सिर्फ अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सीमित दायरों में लिखने के लिए बदनाम हिंदी की महिला लेखिकाओं ने न अपनी कोई आत्मकथा लिखी, न जीवनी-सुभद्रा कुमारी चौहान पर "मिले जोत से जोत" को छोड़कर । शायद यह उनकी ईमानदारी और साहसहीनता ही रही होगी कि झूठ वे लिखना नहीं चाहती थीं और सच लिखने का साहस नहीं था । इस क्षेत्र में मराठी शायद सबसे समृद्ध है । वहाँ एक दर्जन से अधिक ऐसी आत्मकथाएं हैं जिन्हें पढ़कर लेखिकाओं की बेबाकी पर आश्चर्य होता है - हंसा वाडेकर, शांता आप्टे से लेकर शांता अमर शेख और अन्य दलित लेखिकाओं की आत्मकथाएँ पढ़कर चकित होना पड़ता है । पंजाब तो हमेशा ही अपने खुलेपन और साहसिकता के लिए जाना जाता रहा है । अमृताप्रितम के रोमानी झूठ "रसीदी टिकट" को छोड़ भी दें, तो दिलीप और टिवाणा की "नंगे पैरों का सफर" और अजीत कौरकी "खानाबेदोश" मुझे आज भी बेजोड़ ही लगती है ।[1]

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि यह कितना बड़ा अंतर्विरोध है कि लेखक के पास अपने सिवा लिखने को कुछ न हो, मगर अपनी कहानी भी वह साहस और बेबाकी से न लिख सके ... इसके पीछे भी आत्मगोपन, हिप्पोक्रैसी, असुविधाजनक के सामने आने का भय, मेरे जीवन में, ऐसा कुछ नहीं है कि जर्रा नवाज़ी है या "रहिमन निज मन की विथा, मन ही राखो गोय, सुन इठलैयहिं लोग सब, बांट न लहियै कोय" की सावधानी ? सामाजिक सुरक्षा का यही चौकन्नापन रहा होगा कि हमारे पास सौ सालों में सिर्फ कुछ

- -

1. हंस - मार्च, 1994 - पृ.सं. 9

गिनी-चुनी आत्मकथाएँ ही हैं । दलितों और औरतों को तो हमने हजारों सालों से कभी मौका ही नहीं दिया कि वे हमारे बीच, हिकारत और हंसी का पात्र बने बिना, अपनी बात खुलकर कह सकें । क्या यह बात आपको चकित नहीं करती कि सौ सालों के हमारे शिष्ट साहित्य में शिवरानी देवी के "प्रेमचंद घर में" के सिवा किसी लेखिका की आत्मकथा का नाम याद नहीं आता ? (पिछली सदी के नवें दशक में "एक हिन्दू औरत" की संदीपनी - संदेश" आत्मकथा कम, औरत-दुर्दशा ज्यादा है ।)[1]

आत्मकथा न लिखे जाने और उसमें भी विशेषकर महिलाओं द्वारा आत्मकथा न लिखे जाने पर विचारते हुए महिला लेखिका मृदुला गर्ग लिखती है कि - ज्यादातर लेखक और लेखिकाएँ काफी साहित्य रच चुकने के बाद ही आत्मकथा लिखने के लिए आगे आते है । उनकी हर रचनात्मक कृति उन के अंतर्मन की सूक्ष्मतम भावना, विचार, चिन्तन, चाहत, विश्वदृष्टि और जीवन लक्ष्य को अभिव्यक्ति देती है और उनका यह व्यापक भावबोध, ऐतिहासिक स्मृति को, निजी जीवन की अनुभूतियों और अनुभवों की कसौटी पर परख कर, धीरे-धीरे निर्मित होता है । इसलिए आत्मकथा लिखने पर आने तक, उन्हें अपने जीवन के यथार्थ को कल्पना, वांछा और चयनित (सिलेक्टिव) स्मृति से रंगकर, फंतासी बनाकर देखने और शब्दों को खास तरह इस्तेमाल करने की आदत पड़ चुकी होती है । फिर ज्यादातर लेखक (लेखिकाएँ) कम से कम एक ऐसा उपन्यास अवश्य लिख चुके होते हैं, जिसमें उनके जीवन की सबसे मूल, विशिष्ट और भावप्रवण अनुभूति व्यक्त हुई हो । ऐसे में, वे ईमानदारी के साथ, यह विश्वास करना शुरू कर चुके होते हैं कि उनके अंतर्गत में बसा फंतासीयुक्त यथार्थ ही उनका वास्तविक सत्य है । उसी को वे चंद जाने पहचाने नामों की मदद

- -

1. हंस - फरवरी, 1996 -पृ.सं. 6

से, प्रमाणिक बनाते हुए, आत्मकथा में उतारे देते हैं । परिवार या समाज में परिचित, सचमुच के नामों का इस्तेमाल कथ्य को सच्चा नहीं बनाता, लेखक को चश्मदीद गवाह की सतर्कता जरूर बख्शता है । लेखक सतर्क हुआ नहीं कि सच से किनारा काटकर झूठ बोला । क्या करे बेचारा, रचना धर्म की लाचारी है । उन्हें लगता है, लेखक सबसे ज्यादा सच्चा और ईमानदार तब होता है, जब सृजनात्मक लेखन कर रहा होता है और सबसे कम ईमानदार तब, जब आत्मकथा में सायास "सच" लिख रहा होता है । इसीलिए सामाजिक अनुशीलन के लिए भी लेखकों [या लेखिकाओं] की आत्मकथाओं के मुकाबले, उनकी साहित्यिक कृतियाँ ज्यादा महत्वपूर्ण होती है । आजकल, बार-बार यह सवाल क्यों उठाया जा रहा है कि लिखकाओं को आत्मकथा लिखनी चाहिए या कि लेखिकाएँ आत्मकथा क्यों नहीं लिखती ? उसके मूल में, कहीं यह भावना तो काम नहीं कर रहीं, कि आज के बहुआयामी सच को, खींच-तानकर एक दायरे में फिट कर दिया जाय, जिससे समाजशास्त्रियों और नारी उत्पीड़न के शोधार्थियों का काम आसान हो सके ? सत्य की खोज इतनी आसान नहीं होती और न बनाई जानी चाहिए । सच बहुआयामी ही नहीं, सतत गतिशील और परिवर्तनीशल होता है और बराबर पुनर्विश्लेषण की माँग करता है । औरत [मर्द] का सच, उसकी कृति में दर्ज आत्मकथा में मिलता है, आत्मकथा में नहीं ।[1]

इस संदर्भ में मृदुला गर्ग ने आगे लिखा है कि आत्मकथा लिखते हुए सभी लोग छिपाते ज्यादा हैं, जाहिर कम करते हैं । कुछ अपने को बचा-बचाकर लिखते हैं और खुद को परिस्थितियों और समकालीनों का शिकार बनाकर दर्शाते हैं तो कुछ निर्भीकता का दम भरते हुए, जिंदगी की मामूली और नगण्य घटनाओं को रोमांच और चमत्कार से भरकर पेश करते हैं । [देखिए कमला दास, अमृता प्रीतम, बलवंत गार्गी, हरिवंशराय बच्चन आदि की आत्मकथाएँ] जो लोग

- -

1. हंस - जनवरी, 1995 -पृ.सं. 89

रचनात्मक लेखन के दौर से नहीं गुजरे होते, वे फिर भी, कुछ हद तक, अपने अनुभूत यथार्थ को, सीधे-सीधे, बिना आविष्कार, रिकार्ड करने में सफल हो सकते हैं पर लेखक के लिए आविष्कार- रहित लेखन कर पाना करीब-करीब असंभव है ।[1]

जाहिर है आत्मकथा लिखना बहुत कठिन कार्य है । क्योंकि अपनी अच्छाईयों का वर्णन करना तो सरल है परन्तु अपनी कमियों को स्वयं के द्वारा पाठकों के सामने उजागर करना जटिल कार्य है । आत्मकथा लिखने के लिए लेखक के पास ईमानदारी से अपने आप को खोलने का साहस होना चाहिए । ईमानदारी, साहस, सच्चाई के अभाव में वह केवल आत्मप्रशंसा ही करेगा । इसी कारण हिन्दी साहित्य में आत्मकथाएँ कम है । राजेन्द्र यादव ने जीवनी-लेखन पर जोर डालते हुए कहा है कि हमारे पास मरने के बाद ही व्यक्ति पर कुछ लिखा जाता है । जीवित व्यक्ति पर न लिखना एक मजबूरी है । यह सत्य हेकि कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता है कि उसके जीवन की आपत्तिजनक घटनाओं और अंतर्विरोधों को समाज के सामने रखा जाये । स्पष्ट ही इसके मूल में हमारे मौजूदा समाज में व्याप्त सामंती नैतिकता है । फिर भी प्रसन्नता की बात यह है कि हिन्दी में इधर कुछ दलित लेखकों के साथ-साथ दूधनाथ सिंह एवं रामविलास शर्मा जैसे स्थापित रचनाकारों की आत्मकथाएँ छपीं हैं ।

---

1. हंस - जनवरी, 1995 - पृ.सं. 89

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक न्याय के लिए आन्दोलन
और
दलित साहित्य

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक न्याय के लिए आन्दोलन और दलित साहित्य

राजेन्द्र यादव के वैचारिक लेखन से गुजरते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने साहित्य और समाज का सभी कोणों से अध्ययन किया है। उन्होंने अपने लेखन का सामाजिक न्याय के लिए हथियार के रूप में उपयोग किया है। एक आम आदमी की पीड़ा और बेचैनी को उन्होंने समझा, जाना और अपने लेखन में स्थान दिया तथा अपने लेखन में आम आदमी के खिलाफ समाज में चल रहे "षड्यंत्र" का पर्दाफाश किया है। उनका सारा का सारा संघर्ष विशेष रूप से दलित वर्ग और नारी को सामाजिक, न्याय दिलाने से जुड़ा है। उनकी प्रतिबद्धता किसी "वाद" विशेष की बजाय "आम आदमी" के प्रति है। वस्तुतः सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने वाले लेखकों में राजेन्द्र यादव का नाम अग्रगण्य है। समाज में विशेषतः दो ही वर्ग ऐसे हैं जिन्हें आज भी पूर्ण स्वतंत्रता

{मुक्ति} नहीं मिली है - दलित एवं नारी । ये आज भी गुलामी की पीडा से ग्रस्त है । इन्हीं की पीड़ा को राजेन्द्र यादव ने शिद्दत से महसूस किया और अपने लेखन में इस गुलामी के विरोध में वैचारिक स्तर पर सशक्त आंदोलन चलाया है । उनके लेखन में हम समाज से बहिष्कृत लोगों की आवाज सुन सकते है ।

"दलित" शब्द की परिभाषा देना अपने आप में एक उलझन है । परिभाषा को लेकर साहित्य,समाज, और राजनीति में भी बड़ा विवाद है। प्राचीन समय से जाति केआधार पर इस वर्ग का नामकरण हुआ परन्तु आज कुछ लोगों का मानना है कि आर्थिक रूप से पिछडे व्यक्ति को भी दलित माना जाये, जो न्याय संगत नहीं है । जन्म से दलित व्यक्ति की पीड़ा अवर्णनीय है ।

वर्णाश्रम धर्म का लक्ष्य चाहे कितना ही उच्च क्यों न रहा हो, परन्तु व्यवहार के वास्तविक धरातल पर वह अपने आदर्शों से काफी नीचे रहा है । आदिकाल में व्यक्ति के कार्य के आधार पर वर्ण का निर्धारण हुआ था, परन्तु कलान्तर में जाति के आधार पर ही उसे कार्य का वरण करना पड़ा । वर्णाश्रम व्यवस्था जिस वर्ण को "शुद्र" कहा गया उसे ही कलान्तर में "अछूत" और "हरिजन" के नाम से अभिहित किया गया । आज "हरिजन" शब्द का उपयोग अवैध है । और "छुआ-छूत" भी भारतीय संविधान की दृष्टि से एक संगीन जुर्म है । और अब इसका अर्थ "दलित" शब्द में निहित है । समय के अनुसार शब्द बदले लेकिन इस वर्ग के लोगों की मूल-भूत स्थिति में कोई खास सुधार नहीं आया ।

दलित वर्ग के अंतर्गत वे जातियाँ समाहित हैं जिन्हें परम्परा से अछूत माना गया है, उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और मानसिक सभी दृष्टियों से वंचित रखा गया है । एक जमाने में उन्हें छुना तक पाप समझा जाता था । प्रो. रामशरण शर्मा ने "शुद्रों" का प्राचीन इतिहास" नामक अपनी पुस्तक में सप्रमाण यह बतलाया है कि भारतीय समाज में आरम्भ से ही "छुआ-छूत" की

प्रथा प्रचलित रही है । उन्हीं के शब्दों में - "वैदिक काल का अंत होते-होते कुछ बातें भी प्रकट होने लगीं । शूद्र के शरीर से स्पर्श होना और कुछ आचारिक [शुभ] अवसरों पर उसे देखना भी निषिद्ध माना जाता था ।[1] आज भी छोटे-छोटे देहातों कस्बों में शूद्र बनाम दलितों की यही स्थिति है । सवर्ण भले ही आर्थिक रूप से वंचित रहे हैं किन्तु वे कभी अछूत नहीं रहे । उन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त रही । उनकी पवित्रता और सामाजिक ऊँचाई पर कभी भी संदेह नहीं रहा, लेकिन दलितों के ऊपर अछूत का धब्बा लगा हुआ है । उसी से मुक्ति के लिए वे "अछूत" के स्थान पर "दलित" कहलवाना अधिक पसंद करते हैं । दलित की पीड़ा को सवर्ण कभी नहीं समझ पायेगा, क्योंकि यह एक हीनता ग्रंथि है । दलित होने की हीनता ग्रंथि से मुक्त होना कठिन है । इसी मुक्ति की तलाश में दलित - साहित्य सामने आया है । वस्तुतः दलित साहित्य का जन्म अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन की कोख से हुआ है ।

दलित साहित्य का नामकरण और उसकी परिभाषा के संबंध में आरंभ से ही विद्वानों में विवाद बना रहा है । विभिन्न साहित्यकारों ने अपने-अपने अनुसार दलित साहित्य को परिभाषित किया है । हम यहाँ कतिपय प्रमाणिक विचारों का अध्ययन करेंगे ।

दलित साहित्य की परिभाषा के दो पक्ष हैं । एक पक्ष के अनुसार दलित जाति द्वारा रचित साहित्य ही दलित साहित्य है, जो न्याय संगत भी है । दूसरे पक्ष के अनुसार सवर्णों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य है । इन दो पक्षों पर विस्तार से चर्चा करें तो शायद दलित साहित्य की अवधारणा कुछ हद तक स्पष्ट हो जायेगी ।

- -

1. शूद्रों का प्राचीन इतिहास - पृ.सं. 73

डॉ. गजानन चव्हाण के अनुसार "दलित साहित्य दलितों की मुक्ति के लिए दलित लेखकों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य है ।"[1] इस परिभाषा के तीन आयाम हैं । दलितों पर लिखे होने से दलित साहित्य उत्थान और नवविकास के लिए प्रेरित करता है, दलितों की मुक्ति का उद्देश्य उसे मुक्ति आन्दोलन की प्रक्रिया के साथ जोड़ देता है और दलितों द्वारा लिखे होने से उसके अनुभवजन्य लेखकीय साझेदारी का आयाम प्राप्त होता है ।

सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक, डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक साक्षात्कार में अनुप शुक्ल द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हुए दलित साहित्य को परिभाषित किया है । उन्हीं के शब्दों में "दलितों का अपने बारे में लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है ।"[2]

डॉ. एन. सिंह ने दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि - "दलित साहित्य की शक्ति "कला" नहीं "सत्य" है । इसलिए दलितों द्वारा दलितों के लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य कहूँगा ।"[3]

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए डॉ. गंगाधर पानतावणे ने एक साहित्यिक सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कहा था :- हमारे साहित्य की प्रेरणा केवल डॉ. बाबा साहेब और उनकी क्रांतिकारी विचारधारा है । इसमें कोई संदेह नहीं । कई समालोचक दलित साहित्य का रिश्ता कभी मार्क्सवाद से तो कभी हिन्दुत्ववाद से या कभी नीग्रो साहित्य से जोड़ते हैं । मैं इस अम्बेडकर विचार मंच पर फिर एक बार दोहराता हूँ कि हमारे दलित साहित्य की प्रेरणा, न मार्क्सवाद है न हिन्दुत्ववाद, न नीग्रो साहित्य है - नीग्रो अछूत

- -

1. भाषा - मार्च - अप्रैल, 1993- पृ.सं. 24
2. युद्धरत आम आदमी - दलित चेतना कविता विशेषांक - 31 - पृ.सं. 181
2. - वही - पृ.सं. 204

नहीं था और नहीं है ।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मार्क्सवाद और हिन्दुत्ववाद की बजाय बाबा साहेब की क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित होकर दलितों द्वारा दलितों के लिए, दलित जीवन की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है ।

"दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद" विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए मोहनदास नैमिशराय ने दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि "दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है । क्योंकि उन्होंने जो नारकीय उपेक्षापूर्ण जीवन जिया है । वह कल्पना की चीज़ नहीं है । दलित साहित्य जख्मी लोगों का दस्तावेज है।"[2] दलित साहित्य के सबसे अधिक हिमायती समझे जाने वाले रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी दलित साहित्य की परिभाषा दी है - "वर्ण व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीय स्वतंत्रता-समता विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रकिया को तेज करना दलित साहित्य की मूल-भूत संवेदना है ।[3]

समालोचक राजेन्द्र यादव का मानना है कि - "दलित साहित्य जैसी रचनाऐं यही सिद्ध करती हैं कि आदमी को खुद आगे बढ़कर अपनी बात कहनी होगी, क्योंकि सद्भाव और प्रोफेशनल ईमानदारी के बावजूद मध्यवर्गीय वकील उसे सही ढंग से पेश नहीं कर पायेंगे ।"[4]

जाहिर है कि दलित साहित्य की लोकप्रियता इन दिनों बढ़ती जा रही है । आज हिन्दी में जो दलित साहित्य लिखा जा रहा है उसका एक बड़ा हिस्सा दलितों द्वारा रचित है । आज दमित वर्ग के लोग गैर दलितों द्वारा

- -

1. कुदरत आम आदमी, दलित चेतना - सोच विशेषांक - 36 - पृ.सं. 26
2. - वही - पृ.सं. 233
3. कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति - पृ.सं. 61
4. प्रज्ञा साहित्य अंक - मार्च - जून, 1995, - पृ.सं. 8

लिखित या समूह साहित्य को दलित साहित्य के अंतर्गत रखने का विरोध करते है । इन के विरोध से साहित्य का फलक सीमित होने की संभावना है । अत: कुछ लोग मानते हैं कि गैर दलितों के लेखन को, जो दलितों के जीवन पर लिखा गया है, भी दलित लेखन का अधिकार मिलना चाहिए । महतान कपूर का मत है कि - "दलित साहित्य को दलित लेखकों द्वारा अपने घर के चिथड़े बिखेरने तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए यह अत्यंत शक्तिशाली धारा है और इसकी अनंत संभावनाएँ है । गैर दलितों को भी पूरी गंभीरता के साथ इसमें प्रवृत्त होना चाहिए ।"[1] इसी प्रकार विचार धारा का समर्थन करते हुए दलित साहित्यकार महामहिम राज्यपाल माताप्रसाद लिखते हैं - "दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है, बल्कि जिन्होंने भी दलित पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है, वह सृजन दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। अत: जो भी गैर-दलित, दलितों की स्थिति का वास्तविक चित्रणकरता है, वह भी दलित साहित्यकार है ।"[2]

दलित साहित्य की लोकप्रियता देखने से अब यह आवश्यक नहीं लगता है कि दलित साहित्य उसे ही मान लिया जाये जो दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया हो । दलित साहित्य वह भी है जिसमें दलित संवेदनाओं का विवेचन होता हो, दलितों की भावनाओं और उनके दु:ख दर्द का समावेश हो । स्वयं प्रगतिशील और वामपंथी भी दलित साहित्य का समर्थन इसी शर्त पर करते हैं कि जन्म से शूद्र या अछूत को ही दलित नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि उन्हें भी दलित माना जाना चाहिए जिनकी आर्थिक दशा ठीक नहीं है क्योंकि उन्हें भी दलितों जैसा अपमान झेलना पड़ता है । सवर्णों में भी

- -

1. कल के लिए - दिसम्बर, 1994 - पृ.सं. 12
2. संचेतना अंक - 1-2, मार्च-जून, 1998 - पृ.सं. 38

एक बड़ा वर्ग ऐसा है जिनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है । और वे दलितों जैसा ही जीवन यापन कर रहे है।। स्वयं दलित भी कई बार आर्थिक रूप से स्थापित होने के बाद अपनी बिरादरी को नीची नजर से देखते हैं । इसीलिए समाज के पीड़ित, शोषित, बहिष्कृत वर्ग के लिए लिखे जाने वाले साहित्य को ही दलित साहित्य माना जाना चाहिए ।

सुप्रसिद्ध हिन्दी दलित साहित्यकार कंवल भारती का विचार है कि - "दलित साहित्य दलितों के लिए ही नहीं, पूरे समाज के लिए है । दलित, गैर-दलित, प्रगतिशील लेखकों के लक्ष्य एक हैं । हम जातिवाद खत्म करना चाहते हैं, वे वर्गवाद खत्म करना चाहते हैं । बहस गांधी, मार्क्स, अम्बेडकर पर एक साथ चलनी चाहिए और देखना चाहिए कि दलितों की जीवन स्थिति के बारे में उनका आकलन क्या है ।"[1]

दलित साहित्य दलितों की स्थितियों सीमाओं और संभावनाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित करता है । डॉ.सोहनपाल सुमनाक्षर का मत है कि "दलित साहित्य का मूल आधार दलितोत्थान है। अतः किसी भी साहित्यकार द्वारा दलितोत्थान हेतु लिखा गया साहित्य दलित साहित्य की सीमा में आता है ।[2]

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार "दलित साहित्य सिर्फ एक दलित, अछूत या शूद्र का साहित्य नहीं है । दलित साहित्य अपने आप में बेहद व्यापक अर्थ रखता है । दलित शब्द के भीतर छिपा गूढ़ अर्थ जिस भाव की व्याख्या करता है वह एक पहचान है इन लोगों की जो सदियों से दबे, कुचले, प्रताड़ित,

---

1. कुदरत आम आदमी, दलित चेतना - सोच अंक - 36 -पृ.सं. 235
2. आजकल - अक्तूबर, 1992- पृ.सं. 16

उपेक्षित लोगा है । जिन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में अपनी रचनात्मकता, दृढ़ता और मौलिकता स्वयं सिद्ध की है । इस देश के निर्माण में जिन्होंने अपना जीवन स्वाह किया है ।"[1]

उपर्युक्त मंतव्यों से स्पष्ट होता है कि कुछ आलोचक दलित साहित्य को आर्थिक दृष्टि से दलित शोषित समाज का दर्पण मानते हैं और कुछ उसे अस्पृश्य समझे जाने वाले मानव-समूह की दु:खद गाथा समझते हैं। इस प्रकार हमारे सामने दो भिन्न मत दिखाई पड़ते हैं ।

कुछ आलोचकों के मत के अनुसार दलित साहित्य के अंतर्गत सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषित सभी समुदायों का समावेश कर दलित साहित्य को एक व्यापक रूप देना चाहिए । लेकिन इसे व्यापक रूप देने से दलित साहित्य अपनी अर्थवत्ता का अतिक्रमण करके अस्पृश्यता के मूलभूत सामाजिक प्रश्नों से ही अलग हट जाता है । इस संदर्भ में राजा ढाले का साफ कहना है कि - "हमारा साहित्य आज दलित साहित्य के नाम से पहचाना जाता है । कुछ लोग दलित शब्द से ध्वनित होने वाली अस्पृश्यता को भूलकर आर्थिक रूप से शोषित दशा को ही अपनी वेदना समझकर व्याख्या कर रहे हैं । अस्पृश्यता नष्ट करने का इससे सरल रास्ता और कौन सा हो सकता है कि अस्पृश्यता को हम खुद ही भूल जायें । अपना दु:ख भूलकर जो दूसरों का दु:ख अपनाकर सीने पर बोझ की तरह ढो रहे है वे अपनी अस्मिता को भूल गये हैं । जो अपनी अस्मिता को समझ नहीं पाये हैं वही अस्पृश्यता के बदले आर्थिक दशा को महत्वपूर्ण समझ रहे हैं । वे यह भूलते हैं कि बद्तर आर्थिक दशा का मूल भी अस्पृश्यता के निर्मित कटघरे में ही है ।"[2] राजा ढाले उन साहित्यकारों का विरोध करते

---

1. न्याय चक्र - मासिक - फरवरी-मार्च, अंक - 1992 - पृ.सं. 29
2. अस्मितादर्श - दिवाली अंक - 1976 -पृ.सं. 14

हैं जो अस्पृश्यता के बदले आर्थिक दशा में दलित साहित्य के स्त्रोत ढूंढ रहे हैं ।

दलित साहित्य के पक्ष में यह कहना गलत नहीं होगा कि अनुभूति की प्रमाणिकता इस साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक है । क्योंकि दलित लेखक घटना परिघटनाओं का स्वयं साक्षी है । गैर दलितों ने दलित जीवन विषयक साहित्य रचा है । लेकिन यह सहानुभूति और संवेदना के विस्तार का प्रश्न है। गैर दलितों के विपुल साहित्य - भंडार में दलितों पर नगण्य सामग्री है । वह भी ज्यादातर काल्पनिक एवं अप्रमाणिक है । अनुभूति की प्रमाणिकता तो स्वयं दलितों द्वारा सृजित साहित्य में ही सम्भव है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि दलित साहित्य दो खेमों में बंटा हुआ है। पहला स्वयं दलित और दूसरा गैर दलित । दोनों खेमों द्वारा दलित साहित्य तेजी से लिखा जा रहा है । इस पर ध्यान देने के बजाय इस बात पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए कि दलित साहित्य से दलितों का उत्थान हो रहा है या नहीं । जो भी साहित्य दलितों की चेतना को जगा सके और उन्हें शक्ति दे सके वही दलित साहित्य है । राजेन्द्र यादव ने पीड़ित शोषित, समाज से बहिष्कृत 'आम-आदमी और नारी को दलित की संज्ञा दी है । उन्होंने इस विषय पर अपने लेखन क्रम में बड़ा गम्भीर और वैचारिक अध्ययन किया है । उन्होंने दलित और नारी को गुलाम की संज्ञा दी है। ये आर्थिक, मानसिक, शारीरिक - सभी मायनों में गुलाम हैं।

दलित और नारी की समस्याओंकोमद्देनजर राजेन्द्र यादव ने इतिहास, राजनीति, संस्कृति, सभ्यता और साहित्य आदि कई मुहानों पर आत्मविश्लेषण और रक्तशोधन की प्रक्रिया शुरू करने की कोशिश की है ।

साहित्य के क्षेत्र में लेखन से पहले लेखक के नाम को महत्व दिया जाता है । लेखक के नाम से "लेखन" को परखा जाता है । साहित्य क्षेत्र में जात-पांत पर व्यंगात्मक शैली में राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि "इन लोगों के आगे गुप्ता, शर्मा, बंसल, अंसल, शुक्ला, तिवारी कुछ तो लगा हो । आखिर पता तो चले कि ये ससुरे हैं क्या चीज़ ? भीतर से बहुत बेचैन हूँ कि इनकी कुछ जात-पांत तय हो, शहर-देश पता चले तो अपने दिमाग के सही खाने में इन्हें फिट करूँ .. वास्तविक रिश्ता तय हो फिर वे स्वयं ही कहते हैं कि वे खुद जात-पांत नहीं मानते हैं उन्होंने खुद दूसरी जाति में शादी की थी । मगर ये सब पता, जानकारियाँ मिलने से दिमाग को सुकून मिलता है । अपने से ऊँचा है तो बराबर लाने में और नीचा है तो उठाने की "उदारता" संतोष और गर्व देती है ।"[1] उपर्युक्त भावना एवं सोच गैर दलित लेखकों में देखने को मिलती है । इसीलिए गैर दलितों का दलित साहित्य संदेह की दृष्टि से देखा जाता है ।

"जाति" आदमी की पहचान है उसे इसी से पहचाना जाता है । इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव हिन्दू समाज के पाखंड पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि - "सच बात यह है कि हजारों सालों से आदमी को आदमी की तरह देखने का उनके पास कोई संस्कार ही नहीं है, वे सामनेवाले के साथ अपना संबंध और व्यवहार उसकी जाति और क्षेत्रियता से तय करने के लिए अभिशप्त है । हर जाति के लिए उनके मन में पहले से तय फार्मूले हैं, और हर व्यक्ति के प्रति उनका रवैया प्राय: उन्हीं फार्मूलों से तय होता है । उनके अवचेतन में आदमी के नाम, हैसियत, और व्यक्तिगत उपलब्धियों का कोई महत्व नहीं है - आधारभूत बात है उसकी जाति- बाकी बातें तो वे "लेकिन" या "होते हुए भी" या "इसलिए" लगाकर तय कर लेंगे । उनके लिए आदमी नहीं, सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति का जन्म कहाँ हुआ ।"[1] उपर्युक्त कथन कड़वा सत्य है, । आज भी सवर्णों की मानसिकता दलितों के प्रति कुछ हद तक ऐसी ही बनी हुई है।

---

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस.-सितंबर, 1989

दलितों को सवर्णों द्वारा सीमित स्वतन्त्रता दी गयी है । उन सीमाओं को पार करना उनके लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है । "जनता राज में जगजीवन राम को प्रधानमंत्री बनाये जाने का आश्वासन था और बन गये मोरारजी देसाई । गुस्से से लात मारकर बाबूजी ने टी.वी. तोड़ दिया था "ये ब्राह्मण कभी किसी चमार को प्रधानमंत्री नहीं होने देंगे - "हम इस वाक्य के कोड़े का दर्द नहीं महसूस करते, सिर्फ एक और तर्क थमा देते हैं - "अमेरिका में कोई काला बनकर दिखाये वहाँ का प्रेसिडेंट"[1] परन्तु आज उसी संकीर्ण मानसिकता वाले सवर्ण वर्ग ने के.आर.नारायणन को भारत का राष्ट्रपति स्वीकार किया है । निश्चित रूप से दलितों के लिए यह गर्वकी बात है ।

दलितों के प्रति समाज के दोहरे मानदण्ड को दर्शाते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि - "हम नीचों से अपने मंदिरों का एक-एक कंगूरा-कलश, पूजागृह सभी कुछ बनवायेंगे - कुएं बनवायेंगे, खेत जुतवायेंगे, फसलें लदवायेंगे - और सबसे पहले उन्हीं का वहाँ प्रवेश वर्जित कर देंगे, जिस मूर्ति को कल तक कारीगर ने अपने पांव के पंजों में दबाकर बारीक छेनी-हथौड़ी से तिल-तिल तराशा है - कल उसे ही उसके दर्शन का अधिकार नहीं होगा... जिस रसोई के हर चूल्हें और आले को उसने बनाया है उसके पास जाने पर उसका सिर फोड़ दिया जायेगा, जिस रामायण, महाभारत को लिखकर उसने लाखों परोपजीवी, जोंक और निकम्में ब्राह्मणों की हजारों पीढ़ियों के लिए हलुआ-पूरी "भकोसने" का इंतजाम किया है - वही उसे भंगी (वाल्मीकि) और हरामजादा मछुआर (वेदव्यास) बताकर एक तरफ दुत्कार देंगे .. स्वतंत्र भारत की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक "भारतीय संविधान" तैयार कराने वाले नीच और फ्रस्ट्रेटेड चमार है, क्योंकि उसने आपको शास्त्रों और व्यवहार के चिथड़े उड़ाने का दुस्साहस किया है ।"[2] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हम मूलतः घूसखोर और दुमुंहे चरित्र

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस - सितंबर, 1989
2. - वही -

के लोग हैं । यह दोहरी मानसिकता राजनीति के क्षेत्र में साफ-साफ दिखाई देती है.. "हाँ, वोट लेते वक्त वह अचानक हरिजन उत्थान की बातें करेंगे, "जात-पाँत" पूछे नहीं कोई हरि को भजै सो हरि का होई" के बोल सुनायेंगे ।"[1]

राजेन्द्र यादव का विचार है कि -आज भी बाकायदा वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करने या उस सोच और संस्कार से पीड़ित भीतर से सचमुच यही मानते हैं कि कुछकाम, कुछ जातियां ही कर सकती है, या उन्हें करना चाहिए- प्रतिभा और दक्षता केवल कुछ जातियों में ही पनप सकती हैं क्योंकि वहाँ हजारों सालों की परंपरा है और वह वहाँ "जीन्स" का हिस्सा बन गयी हैं । वे भाषा से लेकर व्यवहार तक हर कहीं कुछ जातियों को नीचा दिखाते और यही जताते हैं कि तुम्हारा काम अमुक है और तुम वहीं "सोहते" हो, अगर उठकर सूरज की तरफ थूकोगे तो तुम्हारे ही मुंह पर गिरेगा ।"[2] दलितों के उत्थान के लिए इसी सामंती सोच को बदलने की जरूरत है ।

"मंडल कमीशन" का विरोध करने वालों के बारे में राजेन्द्र यादव का विचार है कि - "डेस्परेट" या लगभग हारी हुई लड़ाई में लोग कितने असंतुलित और मानसिक रूप से विखंडित हो जाते हैं इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण आरक्षण विरोधी व्यवहार में दिखाई दे रहा है । "जीन्स" और शूद्रों के भीतर से निकलने वाली गैस, स्त्रियों और नीची जाति के अविकसित मस्तिष्क की "वैज्ञानिक बातें करने वाले कुछ उच्च-वर्ग दंभियों ने, प्रधानमंत्री को खून की बोतलें भेंट की हैं और चुनौती के अंदाज में पूछा है कि बतायें इनमें कौन सा ऊँची या नीची जाति का रक्त है ? मनुष्य की एकता है और बराबरी सिद्ध करने के लिए शायद इससे ज्यादा वैज्ञानिक परीक्षण दूसरा नहीं हो सकता। मगर अचानक बराबरी

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस - सितंबर, 1989
2. - वही - अक्तूबर, 1990

के लिए व्याकुल इन वैज्ञानिकों को कभी, इस तरह का खून भेजने का ख्याल नाथद्वारा और विश्वनाथ मंदिर के पुजारियों को लेकर भी आया है ? उन्होंने यह खून, शंकराचार्यों और प्रभाष जोशियों को नहीं भेजा जो आज गर्वपूर्वक अपने को ब्रह्मा के वमन से उत्पन्न बताते है । अपने उन लाखों माँ-बापों को नहीं भेजा जो लगभग हर दैनिक साप्ताहिक पत्र के "वैवाहिक" स्तंभों में अपनी ही जाति के वर-वधू मांगते हैं ? सिर्फ जन्म और इसी रक्त के नाम पर करोड़ों लोगों को हजारों सालों से पशु-जीवन जीने को मजबूर करने वाली मानसिकता आज अचानक रक्त के वैज्ञानिक विश्लेषण की भाषा बोल रही है । क्या खूब ! !"[1] राजेन्द्र यादव के ऐसे अनेक बेलाग सवालों के जवाब सवर्ण जहनियत वाले समाज के पास नहीं है । ये सवाल समाज के दोहरेपन पर करारी चोट कर उन्हें झकझोर कर रख देते हैं ।

सच तो यह है कि "दलित" एक ठप्पा है । सामाजिक अपमान एवं उपहास उसकी नियति है । वह कितने ही ऊँचे पद पर क्यों न पहुँच जाए दलित होने की नियति से उभर नहीं सकता । वर्ग और जाति के भेद को बताते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "जाति और वर्ग में भेद यह है कि चाहने और प्रयत्न करने पर आप दैत्याकार उद्योगों के मालिक हो सकते हैं, मगर वर्ग बदल जाने पर भी जाति नहीं बदल सकते, क्योंकि यह ठप्पा तो जन्म से आपके अस्तित्व पर लगा है । पिछड़ी और नीची जाति का बड़ा से बड़ा व्यक्ति आज भी जिन सामाजिक अपमानों, उपहासों और भेदभाव से गुजरता है वह हर पल व्यवहार में देखा जा सकता है । लाख आर्थिक विपन्नता और निचले वर्ग का होने के बावजूद बड़े से बड़े वेतन पर भी ऊँची जाति का व्यक्ति न सड़क पर बैठकर जूते गाँठेगा, न मैला ढोयेगा । उसी तरह सारी संपन्नता के बाद भी,

---

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस - अक्तूबर, 1990

केवल कौशल या योग्यता के आधार पर नीची जाति के व्यक्ति को किसी मंदिर का पुजारी नहीं बनाया जायेगा, रसोईये का काम नहीं मिलेगा । डॉ.अम्बेडकर, बाबू जगजीवन राम और खुद मंडल आज तक इस जाति के ठप्पे से नहीं उबर पाये ... अपनी स्थिति बदलने के लिए वर्ग के पास हमेशा विकल्प होते हैं, जाति के लिए विकल्प छोड़े नहीं जाते कि अपनी नियति बदल सके ।"[1]

राजेन्द्र यादव का मत है कि :- "हिंदू समाज अपनी पोर-पोर में जातिबद्ध है, हमेशा से रहा है - उसने मनमाने ढंग से अपने आरक्षण भोगे हैं - कभी शास्त्रों के आधार पर तो कभी शस्त्रों के आधार पर इस जातिवाद को या तो कोई देश-व्यापी आर्थिक - सामाजिक, राजनैतिक आंदोलन तोड़ सकता है जैसा कि स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान गांधी ने किया, बाद में जयप्रकाश ने किया और आज भी नक्सली कर रहे हैं या फिर यह दुर्ग स्वयं अपने अंतर्विरोधों और आपसी हितों के टकराव से टूटेगा । औद्योगिक मॉनोपोली हो या राजनैतिक और जातिगत जकड़बद्धता उसके अंतर्विरोध स्वयं उसके भीतर से ही उसे तोड़ते हैं । जातिवादी एकाधिकार को अगर चुनौतियां मिलेंगी तो दूसरे जातिवाद से ही जहर को जहर से मारने का तर्क अगर पुराना लग रहा हो तो मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार "थीसिस" में ही "एंटीथीसिस" जन्म लेती है, और तीसरी शक्ति का उदय होता है । उनका मानना है कि मंडल आयोग के बहाने विश्वनाथ प्रताप सिंह ने उसी एंटीथीसिस के मुहाने खोल दिये हैं । अपनी जातिवादी सुरक्षाओं और आरक्षणों में बैठे कुलीन, इस प्रतिजातिवादी उभार को बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं । अब शायद पीछे लौटने की गुंजाइश भी नहीं है - या तो देश और समाज की चिंता किये बिना इस तूफान का मुकाबला किया जा सकता है या इसके साथ समझौता करके नये ताल-मेल बैठाये जा सकते हैं । यानी

---

1. मेरी तेरी उसकी बात, हंस - अक्तूबर, 1990

"सूच्याग्र" भूमि न देने की आत्मघाती जिद छोड़नी पड़ेगी । ज्यादा देर खींचने का परिणाम कहीं यह न हो कि बड़ी रियायती और उदार मुद्रा में आप कहें, "अच्छा, हम आपको यह यह देने को तैयार हैं, और दूसरी तरफ से सुनना पड़े कि "देने वाले आप कौन होते हैं ? हमें जो लेना होगा, हम खुद ले लेंगे ।"[1]

राजेन्द्र यादव को, "हंस" की वार्षिक परिचर्चा (विषय था साहित्य में दलित चेतना) में नामवर सिंह द्वारा दिया गया भाषण काफी आपत्तिजनक लगा । इस क्रम में वे कहते हैं कि -व्यक्तिगत रूप से उसमें सबसे आपत्तिजनक भाषण नामवर जी का ही लगा । हो सकता है उन्होंने कोई बहुत ही गरिष्ठ बौद्धिक श्रीखंड बनाया हो, मगर मराठी के लगभग सारे दलित साहित्य को अस्वीकार करते या गलत बताते हुए ही (मानो उनके अस्वीकार करने से नदी-पहाड़ों का "होना" झूठा पड़ जायेगा) । उन्होंने प्रेमचंद और संतसाहित्य, विशेषकर, रैदास की प्रशंसा की थी (वैसे उनका भरोसा कुछ नहीं है, वे अगली किसी गोष्ठी में तालियाँ बटोरने के लिए यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि असली साहित्य तो मराठी का दलित साहित्य ही है) यह सही है कि प्रेमचंद ने सवा सेर गेहूँ, ठाकुर का कुआ, सदगति, पूस की रात और कफन जैसी कहानियों में दलितों की दयनीय दशा का चित्रण सबसे पहले और सबसे प्रमाणिक ढंग से किया है - निराला के चतुरी चमार, तोड़ती पत्थर और पेट - पीठ मिलकर एक करने वाले भिखारी के मुकाबले गहरी मानवीय संवेदना और सरोकारी आक्रोश के साथ (आक्रोश वहाँ अलग से किसी भाषण में नहीं है) शोषक जातियों के हृदय-हीन व्यवहार और दलितों पर होने वाले अत्याचार के बिम्ब-प्रतिबिंब भाव में या पात्रों की आत्मनाशक परिणतियों में है । उसी तरह संत साहित्य

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात, हंस - अक्तूबर, 1990

विशेषकर कबीर और रैदास को आदर्श दलित रचनाकार बताते हुए उन्होंने आज के दलित लेखक को उपदेश दिया था कि वह रैदास की तरह साधना और व्यक्तित्व में इतना ऊँचा उठे कि बड़े से बड़ा पंडित उसके चरन छूने पर मजबूर हो ।[1]

इसी क्रम में राजेन्द्र यादव आगे कहते हैं कि नामवर जी जैसा आतंकवादी विद्वान और शहरि दृष्टिवाला आदमी जब ऐसी भोली, भावुक और ताली-बटोरु बातें कहता है तो कभी समझ की नहीं होती, कोई न कोई गणित होता है । हो सकता है भारतीय जनता पार्टी के बढ़ते वर्चस्व की ध्वनियाँ और पूर्वतापधानियां उनके सुर को "साध" रही हो, वर्ना जिस सवाल को मराठी में दसियों साल बहस-मुबाहिसे के बाद तय कर दिया गया हो,उसे परिभाषा के नाम पर नये सिरे से उठाने का क्या अर्थ है कि दलित साहित्य किसे कहते हैं ? क्या नामवर जी नहीं जानते कि मध्यकालीन सन्त साहित्य और आज के दलित साहित्य की मूलभूत चेतना में क्या और कहां अन्तर है ? वे संत, सामाजिक या मानवीय बराबरी की नहीं, आध्यात्मिक बराबरी की बातें कर रहे थे - वह भी भगवान और भक्त की गुहार लगाते हुए या आत्मा, परमात्मा के धरातल पर "ईश्वर ने सबको बराबर बनाया है, उसकी निगाह में सब बराबर है, फिर तुम क्यों यह भेद भाव फैलाये हुए हो" की भाषा में उनकी मांग थोड़े से सम्मान की थी और वह उन्हें भक्ति में मिलता था । मगर जैसा कि मैंने (राजेन्द्र यादव) कहा, हिन्दू वर्णवादी समाज या ब्राह्मणवाद उस व्यक्ति को कभी माफ नहीं करता जो उस व्यवस्था और उसके एकमात्र कस्टोडियन ब्राह्मण के पद और प्रतिष्ठा पर सवाल उठाता है और उसके वर्चस्व को झुठलाता है । आप इस व्यवस्था के चंगुल से छूटकर ही उसकी आलोचना कर सकते हैं : बागी

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस, सितंबर, 1992

हो जाइए, सन्यास ले लीजिए या धर्म बदल डालिए. मगर जैसे ही आप उस ऑर्बिट {घेरे} से बाहर निकले या निकाले गये, आपकी बात की न कोई वैलेडिटी {वैधता} रह जाती है और न आथेण्टिसिटी {प्रमाणिकता} मुझे तो यही लगता है कि जन-भावना को वाणी देने के कारण सामान्य लोगों को संत वाणियां चाहे जितनी सच्ची और उत्प्रेरक लगी हो, वर्णवादियों को उनसे बहुत खतरा नहीं था, "साधु संत है । कुछ भी बोलते हैं रहे उनका क्या है ? गाली भी दे सकते हैं, आशीर्वाद भी" - यह लाइसेंस या छूट उन्हें सिर्फ इसलिए थी कि वे सन्यासी थे, वर्ण व्यवस्था से बाहर और "ड्रॉप-आउट" थे इसलिए हाशियों पर अपना समानान्तर "आंदोलन" चलाये हुए थे, वहाँ हिन्दू-मुसलमान औरत-मर्द सभी थे, क्योंकि "हरि को भजे सो हरि को होई" का खुला खेल था .. मगर ये सारे संत आचार-व्यवहार या साधना भक्ति के माध्यम से स्वीकृत मान्यता और प्रतिष्ठा चाहते उसी ब्राह्मण समाज से थे उन्हीं की तरह बनकर {तभी भक्तमाल में रैदास को पूर्व जन्म का ब्राह्मण" बताया गया है ।}"[1]

राजेन्द्र यादव के ऊपर उद्धृत मंतव्य से गुजरते हुए किसी भी विवेकशील साहित्यिक को यह तीक्ष्ण अहसास हुए बिना नहीं रह सकता कि दलित वर्ग से संबंधित मुद्दे को लेकर उनके लेखन में विश्लेषण धर्मिता की जगह आवेशजन्य भावुकता के साथ-साथ कई बार लोक लुभावन बौद्धिक पैंतरेबाजी का पुट बहुत ज्यादा है जहाँ तक मध्ययुगीन संत-भक्त कवियों के द्वारा आध्यात्मिक स्तर पर बराबरी की वकालत का सवाल है, कहना न होगा कि इन अभिव्यक्तियों के पीछे-ठोस सामाजिक आर्थिक आधार था । प्रसंगात प्रो. इरफान हबीब ने स्वीकार किया है कि जिन परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के तहत मध्यकाल में एक ऐसे साझा बाजार की जरूरत आ पड़ी थी जिसमें कि देश के विभिन्न हिस्सों में

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस. सितंबर, 1992

में रहने वाले दस्तकारों द्वारा प्रचुर परिमाण में उत्पादित तैयार माल या उत्पाद की बिक्री संभव हो सके । उन्हीं परिस्थितियों के तहत साहित्यिक अधिरचना के स्तर पर ततयुगीन संत भक्त कवि एक ऐसे भगवान की जोर-शोर से वकालत कर रहे थे जो समान रूप से सबका हो और जिसके दरबार में सबको बराबरी का दर्जा हासिल हो ।

इस संदर्भ में मुक्तिबोध का विश्लेषण अत्यंत गहन और प्रासंगिक है । उनका मानना है कि युग-विशेष के विशेष विषय, तत्कालीन समाज-विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गों की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव-सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं । ये विविध विषय अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस वर्ग के हृदय में अकुलाते रहते हैं, जो उस काल में साहित्यिक सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते है । किन्तु साहित्यिक सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावशाली होने के लिए उसे पहले समाज में महत्वपूर्ण रूप से प्रभावशाली होना होता है ।

साहित्य एक कला है, जिसमें समाज का नेतृत्व करने वाला प्रधान वर्ग (जो कि संस्कृति का भी नेतृत्व करता है, अथवा विशेष सामाजिक-ऐतिहासिक विकास पर आधारित घटना चक्रों से कारण, समाज का न होते हुए भी, प्रमुख रूपसे प्रभावकारी हो जाता है, जैसा कि सामन्ती समाज-रचना के भीतर, सनातनी ब्राह्मण-धर्म के पूरे जोर के बावजूद, मध्ययुग के मुक्ति-आन्दोलन में निम्न वर्ग के कबीर, रैदास, नामदेव आदि ईश्वर के सम्मुख मानव साम्य के समर्थक क्रांतिकारी कवियों का प्रादुर्भाव बतलाता है ।) - वह प्रधान वर्ग तत्कालीन, ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति के द्वारा, सामान्य रूप से, नियंत्रित मनोवृत्तियों के अनुसार अपने साहित्य सृजन के विषयों का निर्वाचन करता है । साहित्य के विशेष विषयों को निश्चित करने वाली ये मनोवृत्तियाँ तत्कालीन स्थिति - सापेक्ष

हैं । इन मनोवृत्तियों को सक्रिय करने का श्रेय भले ही किसी महान् साहित्यकार को प्रदान किया जाये, वह साहित्यकार स्वयं उन्हीं मनोवृत्तियों का संचय होता है जो उसे समाज से प्राप्त होती है । उस साहित्यकार का महत्व केवल यही होताहै कि उसने उन मनोवृत्तियों को साहित्य में पहले पहल प्रकट कर अन्यों को नेतृत्व प्रदान किया ।[1]

एक दूसरे स्थान पर मुक्तिबोध ने कदाचित सृजन प्रक्रियाँ की व्याख्याँ के दरम्यान संत-भक्त कवियों की रचनाशीलता पर विचार करते हुए सही लिखा है कि - "कलाकार, साधारणतः, जिन विषयों का कला के लिए चुनाव करता है, वह युगानुरूप ही होता है । यदि हम कलाकृतियों का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि विशेष युग में विशेष विषयों को लेकर ही कलाकृतियाँ सामने आयी हैं । जो वर्ग-संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय है, वह अपने वर्ग-सम्बन्धों के भीतर उपस्थित मानव सम्बन्धों को ध्यान में रख, अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार, अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करताहै । उदाहरणातः हिन्दी साहित्य के सामन्ती काल में वीर, श्रृंगार और अध्यात्मक ये तीन ही विषय आवृत्त और पुनरावृत्त होते {रहे} । आत्मसातकृत जीवन जगत् तो वैविध्यपूर्ण है । किन्तु क्या कारण है कि साहित्यिक प्रयास केवल वीर, श्रृंगार और अध्यात्म तक ही सीमित रहे ? इसका क्या उत्तर है? क्या कारण है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में सक्रिय वर्ग-चाहे वह निम्न वर्ग से उठे हुए कबीर {हों} या शासक सामन्ती वर्ग से उठे हुए रहीम - श्रृंगार और अध्यात्म को ही प्रधानता देते रहे ? इस प्रश्न को यह कहकर टरका दिया जाता है कि उन दिनों आत्म-चेतना विकसित नहीं हुई थी । किन्तु अन्तश्चेतना के विकास के मानी भी क्या है ?"

स्पष्ट है कि बाह्य जीवन-जगत् को संशोधित सम्पादित करते हुए जो आत्मसातकृत जीवन-जगत हृदय में उपलब्ध होता है, उस आत्मसातकृत जीवन

जगत् के केवल वे ही अंग प्रकाश में लाये जाते हैं, अर्थात् कलात्मक रूप से बाह्यीकृत किये जाते हैं, कि जिन अंगों का समाज में कोई मूल्य हो, कोई स्थान हो अथवा मूल्य हो सकने की सम्भावना हो, स्थान पा सकने की संभावना हो ।

महत्व की बात यह है कि समाज के भीतर मानव सम्बन्धों की जो अवस्था है, वह अवस्था अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही अपने-आपको उद्बुद्ध और सचेत पाती है । मध्ययुग में निम्न वर्ग को आये सन्त और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्बुद्ध और सचेत पाते हैं । इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछतत्वों को (भक्ति तत्वों को) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं । और फिर इन तत्वों के अनुसार जो बातें समाज में नहीं है या उसके बिल्कुल विरुद्ध जाती है, उनका खंडन करते हैं, अथवा ऐसी जीवन-पद्धति या भाव पद्धति का निर्माण करते हैं जिनसे वे प्रतिकूल बातें खण्डित हों । इस प्रकार वे एक ओर, समाज के साथ सामंजस्य, तो दूसरी ओर, उसके साथ द्वन्द्व इन दोनों का निर्माण करते हैं । समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व की यह युगपत् प्रक्रिया हमें भक्ति-आंदोलन में परिलक्षित होती है । समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व एक साथ उपस्थिति करने वाले इस भक्ति - आंदोलन की विशेषता दृष्टव्य है ।-[1]

मराठी के दलित साहित्य द्वारा चलाये गये आन्दोलन के बारे में राजेन्द्र यादव का मानना है कि - आज वर्ण व्यवस्था के बाहर यानी बागी, सन्यासी और परिवर्तित धर्मियों के माध्यम से ही दलित चेतना और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति को समझा जा सकता है । मराठी दलित साहित्य में हमें इन्हीं विद्रोहियों का अगला रूप मिलता है - बौद्ध धर्म के माध्यम से या

1. मुक्तिबोध रचनावली - पृ.सं. 110-111

लगभग समाज के भीतर रहकर ही अपनी अस्मिता को स्थापित करने की कोशिश शायद इसीलिए उनमें गुस्सा भीहै और अन्तर्विरोध भी ... वहाँ हर दलित और दमित समाज की तरह ऊपर उठने की प्रक्रिया में आत्मदया भी है सवर्णों का अनुकरण भी है, आत्मचेतना और आगे बढ़कर अपनी स्थिति, नियति और उसके कारकों का प्रतिरोध भी ... निश्चय ही यह आन्दोलन मध्यकालीन संतों की "बाहर खड़े होकर" सुनायी गयी ललकारों से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं, और यही चेतना अब फैल रही है उत्तर-भारत यानी हिन्दी - प्रदेशों में .. इसे न तो विनोभाई सदुपदेशों और आध्यात्मिक एकता की दार्शनिक लफ्फाजी से दबाया जा सकता है, न झाड़ बुहारकर गलीचे के नीचे ढंककर "कहीं कुछ नहीं है" के भाव से मुस्कुराते रहा जा सकता है... यह छूछे "मानवीय सम्मान" से ही संतुष्ट रह जाने वाली नहीं, अधिकार, अवसर और हिस्सा माँगती चेतना है ।[1]

"आखिर मैं भी आदमी हूँ । मुझे भी सम्मान और स्वतंत्रता से जीने का हक है ।" स्थिति की असहनीयताओं के दबाव में एक गुलाम, बंधुवा, दलित या स्त्री के, मन या जबान पर आया यह वाक्य ही विद्रोह की पहली घोषणा है । परन्तु जब दलित वर्ग को स्वतन्त्रता मिल जाती है और वो सम्पन्न हो जाय तो वो भी सामंतवादी मानसिकता से ग्रस्त हो जाता है - "हम मालिक है, हम जैसा चाहेंगे तुम्हें रहना होगा, जो देंगे वही स्वीकार करना होगा", वर्ग बदलते ही मानसिकता बदल जाती है । दलित में भी मालिक बनने की जहनियत आ जाती है । यह मनुष्य का स्वभाव है । इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव कहते हैं कि -"विडंबना यह है " आखिर मैं भी आदमी हूँ" के बाण का मारा वह बंधुवा या गुलाम, "आदमी" होने का कौन-सा सपना पालता है ? "आदमी" के रूप में उसके सामने तसवीर सिर्फ अपने मालिक या शोषक की होती

---

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस - सितंबर, 1992

है - जिसकी मुट्ठी में उसका सुख, स्वतंत्रता यहाँ तक की प्राण बंदी है। अनजाने ही उसे मालिक के रहन-सहन, बोलचाल, निरंकुशताएं और अत्याचार या दुराचार "आदमी" होने के सर्वश्रेष्ठ गुण लगने लगते हैं । दुर्भाग्य यह है कि मालिक के साथ उसका संबंध या संपर्क, मानवीय और उदात्त पक्ष से कम, शोषक और शासक पक्ष से ही अधिक और निरंतर होता है, इसलिए जो जितना ही दबा-कुचला गुलाम है, उसका "आदर्श आदमी" उतना ही निरंकुश, अत्याचारी और अमानवीय है । पहला अवसर या छूट मिलते ही यह दलित, "आदमी" बनने की उतावली में ठीक अपने मालिक का प्रतिरूप बन जाता है, दबी-कुचली बहू निरंकुश सास बन जाती है । यह है सामंती ज़हरवाद जो हमारे सारे समाज को "कृपा" और "कर्तव्य" के वर्गगत या वर्णगत, परस्पर विरोधी हिस्सों में बाँटे हुए है । कल तक का दबा कुचला मध्यमवर्गीय किसान वर्ग, आर्थिक समृद्धि और राजनैतिक शक्ति पाकर ठीक वैसा ही निरंकुश सामंत बन रहा है जिसके पैरों तले कल उसकी गर्दनें दबी थीं ।"[1]

जाहिर है कि आर्थिक समृद्धि और राजनैतिक शक्ति पाकर भी जाति से मुक्त नहीं हुआ जा सकता । इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव का कथन है "जाति"... या वर्ण व्यवस्था तारीफ करनी होगी कि कितने कौशल से जाति का यह अहसास जन-जन के खून में भर दिया गया है कि "मौत से पहले आदमी को इससे निजात का रास्ता नहीं मिलता ।"[2] इसी जाति का प्रभाव उनके साहित्य को भी भोगना पड़ता है । आज भी दलित कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा या अन्य दलित साहित्य को ओछी नजरों से आँका या परखा जाता है । दलित पिछड़े, स्त्रीवादी लेखन के नाम पर जो कुछ आ रहा है, उसे साहित्य मानने में भी हमें संकोच होता है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर

---

1. मेरी तेरी उसकी बात, हंस, अगस्त, 1990
2. - वही - जनवरी, 1991

और उन जैसे लोगों को यही कहकर खारिज किया था कि न उनके पास भाषा है, न कला-सुनी सुनाई बातों को सतही ढंग से, गंवारों को प्रभावित करने के दंभ से ही कोई कवि नहीं बन जाता । मानक है तुलसी, सूर, जायसी । ठीक यही बात रवीन्द्र वर्मा जैसे लोग इधर की कहानियों को लेकर कह रहे हैं कि ये दलित- फलित लोग फूहड़, अधकचरी, कला भाषा-हीन आत्मकथाओं को ही कहानी उपन्यास मनवाने पर तुले हैं - कहीं तो कुछ बात हो कि हमारी उन्नत मानसिकता को अपील करे । इसी संदर्भ में राजेन्द्र यादव नादिन गार्डीमर के जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि -लड़ाई के दौरान दो घायल सैनिक अफ्रीकी कैंप में लाए गए । उनमें एक गोरा था और एक काला । दोनों को ही तत्काल उपचार की जरूरत थी । जाहिर है, गोरे के लिए ऐन्टीसैप्टिक्स पेनकिलर, साफ-सुथरी पट्टियां-सभी कुछ साफ-सफाई और "दक्षता" से सुलभ था। उधर पहले तो काले की तरफ ध्यान ही नहीं दिया गया । फिर उलटी-सीधी दवाओं के साथ फटी-पुरानी पट्टियाँ बांध दी गई । नर्स नादिन ने इस का कारण पूछा, तो डॉक्टर का जवाब मिला कि "नहीं, वे तकलीफ को उस तरह महसूस नहीं करते, जैसे हम करते हैं । उन्हें आदत है" ऐसी स्थिति ही भारत में दलितों की है । इस घटना को उन्होंने भारतीय समाज व्यवस्था से जोड़ा है । "क्या सचमुच ?" नादिन ने अपने आप से सवाल किया और उस दिन से जिंदगी और लेखन की तरफ उसका दृष्टिकोण बदलने लगा। एक विशेष सामाजिक बनावट, माहौल, या वैल्यू में जो अपने आपको वंचित, दमित, दलित और "मुख्य धारा" से निष्कासित महसूस करते हैं, उनके लिए हमारे "कलाग्रही" कह सकते हैं कि वे कला की ऊँचाईयों और सांस्कृतिक गहराइयों को हमारी तरह महसूस नहीं कर सकते - उन्हें कुत्सा, फूहड़पन और रोज-मर्रादियत में रहने की आदत है । शायद यह असुविधाजनक सवाल भी उनके लिए अप्रासंगिक और फालतू

है कि ये फैसले वे किन आसनों पर बैठ कर कर रहे हैं ? उनके सारे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सवाल किन लोगों की चिंताओं से आए हैं ? उनका क्रूर और मुंहफट जवाब यह भी हो सकता है, कि कला, संस्कृति और अध्यात्मक का विकास उन्हीं लोगों ने किया है, जो फुर्सत में थे, दुनियादारी से निश्चिंत थे - दूसरे शब्दों में कुलीन और अभिजात थे। इस तर्क से तो हमें भारतीय संदर्भ में न सिद्धों की बात करनी चाहिए, न संतों की, क्योंकि इन दोनों आंदोलनों को जब हम भारतीय समाज के सबसे बड़े पुनर्जागरणों के रूप में महिमान्वित करते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि सिद्धों और संतों के इस उभार के एक मात्र संवाहक दलित, वंचित, शूद्र और स्त्रियाँ थे और वह कुलीन सांस्कृतिक वर्चस्ववाद के खिलाफ खुला विद्रोह था। आज वह "विद्रोह" हमारे यहाँ भी घटित हो रहा है या नहीं और उसके संवाहक कौन है ? चाहे तो यहां भी "कलाग्रही" पुरानी अदा के साथ इन सबको खारिज कर सकते हैं कि "अजी, कोई विद्रोह - फिद्रोह नहीं। सब बकवास और फूहड़पना है। अपने-आप ठंडा हो जायगा। बरसों लगेंगे उन्हें साहित्य-कला की बारीकियाँ समझने में .... "यानी हमारी "बारीकियाँ" समझने में।[1]

सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि दलित साहित्य का उदय मराठी साहित्य से हुआ है। मराठी के सिद्धों और संतों की दलित साहित्य में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है जैसा कि राजेन्द्र यादव का मानना है कि सिद्धों और संतों के संवाहक दलित, दमित, वंचित, अपमानित शूद्र और स्त्री थे। सिद्धों, संतों के लेखन और दलितों के लेखन में मौलिक अन्तर है। इस संदर्भ में शरण कुमार लिंबाले का मानना है कि - मराठी के "संत साहित्य" को "अक्षर वांग्मय" कहा जाता है। मराठी जनता के मन में संतों के प्रति असीम श्रद्धा है, लेकिन दलित लेखकों की भूमिका इससे अलग है। संतों ने जाति भेद और अछूतों के उद्धार के लिए संघर्ष नहीं किया। उन्हें सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा "मोक्ष" ज्यादा महत्वपूर्ण

- -

1. मेरी तेरी उसकी बात - हंस, जनवरी, 1997

लगा । स्त्री और शूद्रों को केवल सहानुभूति से सहलाते है । उनकी चेतना और व्यवहार में भी अधिक अंतरथा । आज दलित लेखक को अपनी मजबूरी क्रोधजनक लगती है । जाति व्यवस्था के कारण दलित लेखक हिन्दू-संस्कृति से टूट गया है, इसलिए उसके मन में संतों के प्रति "विकर्षण" होना स्वाभाविक है । दलित लेखकों के काल और संतों के काल में बहुत बड़ा अन्तर है, जो केवल काल का अन्तर नहीं, बल्कि इस काल में घटे सांस्कृतिक बदलाव का भी अन्तर है ।"[1]

राजेन्द्र यादव ने दलित साहित्य से जुड़े जो सवाल उठाये हैं उनमें से अनेकानेक सवालों के विचार योग्य और बहस तलब होने के बावजूद वहीं कुछ गैर जरूरी सवाल भी हैं, जिन्हें बहुत से दलित लेखकों के साथ-साथ अन्यान्य रचनाकारों ने अकारण विवाद का मुद्दा बना रखा है, मसलन यह सवाल कि क्या दलित चेतना का लेखक गैर दलित नहीं हो सकता ? वस्तुतः दलित जीवन संदर्भों पर गैरदलित लेखकों ने जो लिखा है, अपने मानवीय सरोकारों और संवेदनात्मक तकाजों के तहत लिखा है, इस कारण नहीं कि उनकी ऐसी रचना किसी खास कोटि या पहचान की मानी जाए । ऐसी रचनाओं के दलित, गैर-दलित पाठक भी है । बेहतर हो कि ये पाठक तय करें कि कौन सी रचना किस तरह की है, ना कि लेखक-समीक्षक । यदि दलित लेखक ऐसी रचनाओं को दलित लेखन के दायरे की रचनाएँ नहीं मानते तो उनसे अनावश्यक विवाद क्यों ? दलित लेखकों का यह कहना सही है कि दलित होने की अनुभूति का जो दंश उन्होंने सहा-भोगा है, बड़े से बड़ा गैरदलित लेखक भी उसका अनुभव नहीं कर सकता । यहाँ बुनियादी तौर पर एक बात और जान लेनी चाहिए कि रचना की सही

---

1. हंस - जनवरी, 1997 - पृ.सं. 52

पहचान उसकी अंतर्वस्तु और उसके संवेदनात्मक उद्देश्य से होती है, वह किसके द्वारा लिखी गई है, इस बात से नहीं । फिर भी, दलित लेखकों द्वारा दिए गए स्वानुभूति के तर्क में दम है, और यह सही भी है कि स्वानुभूति का कोई विकल्प नहीं होता । गैर जरूरी सवालों में उलझने के बजाय जरूरी सवालों पर विमर्श हो तो बातें अधिक साफ होंगी ।

जिस प्रकार दलित लेखकों की यह बात सही है कि दलित होने की पीड़ा का अहसास सिर्फ दलितों को ही हो सकता है, उसी तरह उनकी यह बात भी सही है कि गैर-दलित लेखकों से उन्हें अधिकतर करुणा या सहानुभूति ही मिली है, अधिक से अधिक दलित-यातना के कर्ताओं की आलोचना । जाहिर है कि गैर-दलित लेखकों की रचनाओं में दलित-जीवन की संपूर्ण आकांक्षाओं और उसकी सारी अपेक्षाओं की संपूर्ति नहीं हो सकी है, किंतु अपनी संवेदनात्मक निष्ठाओं के चलते जीवन दूर तक दलित जीवन संदर्भों को गैरदलित लेखक अभि-व्यक्ति दे सके हैं, उन्हें हलकेपन से लेना, उन्हें खारिज करना या उनकी संवेदनात्मक निष्ठा पर शक करना उचित नहीं है । वर्ग-वर्ण विभक्त समाजों में भी लेखक वर्ग वर्ण की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए मनुष्यता की व्यापक भूमि पर पहुँचता है, हम यह बात कह चुके हैं । स्वानुभूति का तर्क, तर्क न होकर एक वास्तविकता है, किंतु उसे ही रचना की एकमात्र शर्त, उसकी प्रामाणिकता का एकमात्र तकाजा मान लेने पर न केवल हमें विश्व-साहित्य का एक उत्कृष्ट अंश खारिज करना होगा, साहित्य की अपनी सर्जनात्मक संभावना को भी अमान्य करना होगा । भोगे हुए यथार्थ, अनुभूति की प्रामाणिकता जैसी बातें नई कविता के दौर में भी उठाई गई थीं, और साहित्य को इस कोरे अनुभववाद में बदल देने का जो हश्र, हुआ, हम उससे भी परिचित हैं ।

रही करुणा और सहानुभूति की बात, तो करुणा और सहानुभूति मानवीय भाव हैं जो हमारी मनुष्यता के परिचायक हैं । यातनाग्रस्त के प्रति करुणा न करना अमानवीयता है । वस्तुतः दलित लेखक जिस विद्रोह की बात

करते है उसका बीज-भाव भी करुणा ही है । क्रौंच मिथुन में एक के अकारण वध पर वाल्मीकि के मन में पहले करुणा ही उपजी थी, शाप जिसकी परिणति थी । एक वृद्ध, एक रोगी और एक शव को देखकर सिद्धार्थ करुणा, विगलित ही हुए थे । गैरदलित लेखकों की ऐसी रचनाओं में करुणा से आगे की सकारात्मक स्थितियाँ भी हैं। संपूर्ण दलित आकांक्षाओं पर खरी न उतरते हुए भी उनकी इस मानवीय अभिव्यक्ति को स्वीकार करना होगा ।

मानी हुई बात है कि महज आवेग या महज प्रतिक्रिया जन्य आवेश कभी भी बड़ी रचना-शीलता को जन्म नहीं दे सकता । बड़ी रचनाशीलता धैर्य, परिपक्व अनुभवों और गंभीर विचार की अपेक्षा रखती है । और स्पष्ट ही उसके लिए लेखक की जिन्दगी को उसके समूचे प्रसार और गहराई में थाहना-परखना होता है ।[1]

समकालीन दलित साहित्य लेखन से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आज दलित साहित्य किसी खास प्रांत की धरोहर नहीं है । दलित वर्ग पूरे भारत में फैला हुआ है और इसका अर्थ भी बड़ा व्यापक है । दलित भारत का आम आदमी है और इसमें शूद्र, वंचित, अपमानित, शोषित, बहिष्कृत, एक हद तक आर्थिक रूप से वंचित सभी लोग सम्मिलित हैं । देश की सभी भाषाओं में दलित लेखक रचनारत है । किन्तु बड़ी मात्रा में दलित लेखन के बावजूद दलितों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं आया है।। उन्हें अपनी दशा में परिवर्तन लाने के लिए अपनी शक्ति को बढ़ाना होगा । प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता, सम्मान और भयहीन सुरक्षा मिलनी चाहिए । इसीलिए बाबा साहेब अम्बेडकर ने "संपूर्ण स्वतन्त्रता" की मांग की थी । इन मांगों को लेकर आगे बढ़ने वाली प्रवृत्ति साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है । दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र बिंदु मानता है, मनुष्य के सुख-दु:ख से ओत-प्रोत होता है । मनुष्य को महान मानता है और

---

1. हंस - जनवरी, 1997 - पृ.सं. 52

उसे समग्र क्रांति की ओर ले जाता है । परन्तु यह क्रांति अभी अधूरी है । आज भी कुछ गाँवों में शूद्र अपने हाथों से मैला ढोते हैं उन्हें मंदिर प्रवेश की इजाजत नहीं है । ऐसे शहरों में रहकर कुर्सियों पर बैठकर दलितों के लिए घड़ियाली आँसू बहाना व्यर्थ हैं । समाज में परिवर्तन लाना है तो अपने सफेद कपड़ों के मैले होने की चिन्ता छोड़नी होगी । डूबते हुए व्यक्ति को पार लाने के लिए गोता मारना जरूरी है । अर्थात् किनारे पर रहकर चिल्लाने से डूबने वाले को नहीं बचाया जा सकता । स्पष्ट ही राजेन्द्र यादव का वैचारिक लेखन इस दिशा में एक सार्थक पहलकदमी है ।

पंचम अध्याय

स्त्रीवाद एवं स्त्रीवादी रचना कर्म

पंचम अध्याय

स्त्रीवाद एवं स्त्रीवादी रचना कर्म

"स्त्री उपेक्षिता (THE SECOND SEX) नारी मुक्ति आह्वान की वह पहली पुस्तक है, जो सन् 1942 में पुरुष सत्ता के सामने एक खुली और सशक्त चुनौती के रूपमें प्रकाशित हुई थी ।

सीमोन द बोउवार कहती है कि "स्त्री पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है । वह अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही अनेक नियमों के ढाँचे में ढालता गया है ।" उनका मानना है कि स्त्री पैदा नहीं होती वह स्त्री बनायी जाती है । स्त्री को इस बनाये जाने की परंपरा से मुक्त होना पड़ेगा । यह दुर्भाग्य की बात है कि नारी को नारी बनाने की

कोशिश में एक हद तक नारी की बहुत बड़ी भूमिका है, क्योंकि नारी को नारी बनाने की शिक्षा मादा शिशु को स्वयं नारी ही देती है । प्रसंगात मृदुला गर्ग ने लिखा है कि -अगर भविष्य को छोड़ दे, तो अपने देश का 'आज' यह है कि करीब-करीब , हर हिन्दुस्तानी औरत का असली माशूक उसका बेटा होता है। माशूक वह बला है, जिसमें कोई खामी नज़र नहीं आती, जिससे प्यार के बदले प्यार नहीं मांगा जाता, जो हाड़ मांस का होकर भी अशरीरी होता है । जिसकी हर खता माफ होती है, हर ज़ुल्म पोशीदा । मुश्किल तब होती है, जब जवान होने पर, यह माशूक खुद किसी और का आशिक बनने पर आमादा हो जाता है । उस हादसे से बचने के लिए, हिन्दुस्तानी मांए, वह-वह प्रपंच करती है कि बेटा हमेशा बच्चा बना रहता है । और प्रेयसी-पत्नी में मां को ढूंढता फिरता है । यहां तक कि, अपनी आशिक मां की सेवा भी, वह उसी से करवाता है, खुद नहीं करता। इस मां-स्वरूपा प्रेयसी, पत्नी को, साहित्य कला, रंगमंच और सिनेमा सभी ने खूब महिमा-मंडित किया है और आज भी कर रहे हैं ।[1]

कहना न होगा कि लेखन के स्तर पर स्वयं नारी को स्वतन्त्र रूप से आगे आना चाहिए । क्योंकि पीड़ा को भुक्तभोगी ही जान सकता है । पुरूषों द्वारा नारी के प्रति लिखा गया साहित्य नारी को सहानुभूति मात्र दे सकता है । इसलिए नारी को खुद आगे बढ़कर अपनी बात कहनी होगी । क्योंकि सद्भाव और प्रोफेशनल ईमानदारी के बावजूद अन्य पुरूष वकील उसे सही ढंग से पेश नहीं कर पायेगा । यह बिचौलियों को हटाकर खुद अपनी बात कहने का गुस्सा है । आज स्त्री-लेखन सामने आ रहा है परन्तु उसका

- -

1. हंस, जनवरी-फरवरी, 2000 - पृ.सं. 169

फलक कुछ अपवादों को छोड़कर बहुत सीमित है और जो भी लिखा जा रहा है वह या तो अतिआक्रामक है या दबी आवाज में बाहर आ रहा है। नारी को स्वतन्त्र रूप से खुलकर अपनी बात पुरुष सत्ता के सामने रखनी होगी।

भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के पहले ही नारी आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया था, जो केवल नारेबाजी न होकर ऐसी एक सजगता थी जिसने स्त्री के मानस को ही बदल दिया था। स्वतन्त्रता के पहले की स्त्री, रवीन्द्र-नाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, विवेकानन्द तथा सुभाष चन्द्र बोस से गहरे में प्रभावित हुई थी और वह सिर्फ राजनीतिक स्वतन्त्रता ही नहीं चाहती थी बल्कि उसे सामाजिक स्वतंत्रता की भी अपेक्षा थी। वे रूढ़िग्रस्त पुरुष वर्चस्व से मुक्त होना चाहती थी। आज भी नारी के सारे फैसले लगभग पुरुष ही करता है। स्वतन्त्रता और मुक्ति अभी भी स्त्री के लिए स्वप्न है। इसलिए आवश्यकता स्वतन्त्रता की है। सामाजिक या राजनीतिक स्वतन्त्रता की नहीं बल्कि दैहिक और मानसिक स्वतन्त्रता की। लेकिन स्त्री अभी भी अपने ही खोल से वफादारी और पारम्परिक स्त्रीत्व की कैद से बाहर नहीं निकल पाई है।

स्त्रीवादी विश्वदृष्टि पर विचार करने से पूर्व स्त्री के सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव के मत जान लेना जरूरी है। वे लिखते हैं कि औरत ने जन्म दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाजार दिया। हैनरी मिलर औरत को सिर्फ "कण्ट" संबोधित करता है। पंत कहते हैं "योनी मात्र रह गयी मानवी।" कंकाल उपन्यास में प्रसाद ने स्वीकारकिया है, "पुरुष नारी को उतनी ही शिक्षा देता है जितनी उसके स्वार्थ में बाधक न हों।" प्रसाद जी कि यह बात आज अप्रासंगिक प्रतीत होती है। आज नारी की शिक्षा में विकास हो रहा है। हर साल हम अखबार में देखते हैं लड़कियों ने परीक्षा परिणामों में लड़कों से अधिक नम्बर पाए हैं। नारी जब स्वतन्त्र होती है तो बिगड़ जाती है। तुलसी दास जी कहते

है - "जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहि नारी" स्वतन्त्रता का यह अर्थ भी नहीं होता कि जो मन में आये वो करें। क्योंकि हम समाज में रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अदृश्य समाज का गुलाम है। सामाजिक गुलामी पुरूष के लिए भी है।

राजेन्द्र यादव का मानना है कि तुलसी दास ने स्त्री के बारे में जो लिखा है वह हजारों सालों के अनुभव का निचोड है। "नारी - 9 नारी ने बड़ों बड़ों को उंगलियों पर नचाया है पर यह वह बन्दर है जो डण्डे के आगे नाचता है।"[1] नारी को माया और भ्रम कहा गया है। नारी के खिलाफ पुरूष वर्ग ने ऐसी व्यूह-रचना की है जिसे स्वयं नारी ही सामने आकर भेद सकती है। मात्र आन्दोलन नहीं, सैद्धांतिक आन्दोलन कि आवश्यकता है। नारी अगर ऐसा समझती है कि पुरूष उसे स्वतन्त्र करेगा तो यह उसकी भूल है उसे मुक्ति-लड़ाई स्वयं लड़नी होगी। नारी-मुक्ति-लड़ाई से पूर्व उसे मुक्ति का अर्थ स्पष्ट करना चाहिए।

स्त्री कथाकारों के आगे आने से नारी के प्रति अपनायी जाने वाली सामंती सोच में परिवर्तन आया है। स्त्री की पीड़ा को उसकी गुलामी, दयनीयता को एक नारी ही गहराई से समझ सकती है। आज नारी की हु-ब-हु वह दशा नहीं है जो आज से पहले थी। आज नारी कुछ हद तक स्वतन्त्र हुई है। इस आन्दोलन का न कोई सिद्धान्त न लक्ष्य है। किसी भी आन्दोलन का अपना सिद्धान्त एवं लक्ष्य होना चाहिए। आन्दोलन, आंदोलन के लिए नहीं सिद्धांत एवं उद्देश्य के लिए होना चाहिए।

किसी प्रबुद्ध महिला से पूछा जाय कि नारी मुक्ति क्या है, तो वह स्पष्ट उत्तर नहीं दे पायेगी। क्योंकि वे स्वयं नहीं जानती है कि वे

---

1. सारा आकाश - पृ.सं. 65

चाहती क्या हैं ?। यह एक जटिल प्रश्न है । पहले नारी मुक्ति की सार्थक परिभाषा गढ़ने की आवश्यकता है ।

एक बार जरथुस्त्र एक बुढ़िया से पूछता है - बताओ, स्त्री के बारे में सच्चाई क्या है ? वह कहती है, बहुत सी सचाईयाँ ऐसी है जिनके बारे में चुप रहना ही बेहतर है । हाँ, अगर तुम औरत के पास जा रहे हो तो अपना कोड़ा साथ ले जाना मत भूलना । इसी तर्ज में कवि तुलसी दास ने भी लिखा है कि नारी - ? नारी ने बड़े बड़ों को उगंलियों पर नचाया है पर यह वह बन्दर है जो डण्डे के आगे नाचता है । हजारों सालों से चले आते पुरूष संस्कार का नारी के सम्बन्ध में सार चाहे जो भी हो । हमारे सारे परंपरागत सोच में नारी को दो हिस्सों में बांट दिया है । कमर से ऊपर की नारी और कमर से नीचे की औरत । हम पुरूष को उसकी संपूर्णता में देखते है उसकी कमियों और कमजोरियों के साथ साथ उसका मूल्यांकन करते हैं । परन्तु नारी को हम सम्पूर्णता में नहीं देख पाते ।

राजेन्द्र यादव के अनुसार आदमी ने औरत की जिस एक चीज़ को मारा, कुचला या पालतू बनाया है वह है उसकी स्वतन्त्रता । आदमी हमेशा से उसकी स्वतन्त्र सत्ता से डरता रहा है, और उसे ही उसने बाकायदा अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया है । अपनी अखंडता और संपूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है। वहाँ वह ऐसी शक्ति है जो स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है, बनैली और स्वैरिणी - इसीलिए आदमी ने उसे ही तोड़ा है, तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है । आदमी ने लगातार और हर तरह कोशिश की है कि उसे परतंत्र और निष्क्रिय बनाया जा सके - तभी बोउवा कहती है कि -"औरत पैदा नहीं होती बनायी जाती है ।"

राजेन्द्र यादव का कहना है कि महिला लेखन को दोयम दर्जे का लेखन मानना साहित्यकारों की भूल है । नारी लेखन भी व्यस्क, गम्भीर और विचारशील होता है । महिला लेखिकाओं का बार-बार आग्रह करना कि उनके लेखन को मर्दाना लेखन से अलगाया न जाये, तर्क संगत है । स्त्री, एवं पुरूष के लेखन में भेद नहीं होना चाहिए। स्त्री-पुरूष का विभाजन एक षड्यन्त्र है । राजेन्द्र यादव को यह षड्यन्त्र लेखन में उतना नहीं दिखाई देता, जितना जिंदगी के दूसरे क्षेत्रों में दिखाई देता है ।

उदाहरण के लिए महिला अफसरों से भी अधिक महिला कार-ड्राइवर के प्रति यह पुरूष रवैया अधिक मुखर है । अभी तक यह क्षेत्र सिर्फ "मर्दाना" रहा है - वही स्वाभाविक और स्वीकृत है महिला को कार चलाते देखकर साथी चालक - उसे एक खास अविश्वास, आशंका, कौतूहल, प्रतिरोध और ईर्ष्या से ऊँचाई पर खड़े होकर देखता है - उसकी हर गलती को उसके जनानेपन से जोड़ता है - बड़बड़ाता है "घर में बैठकर रोटी बनाती नहीं, यहाँ चली आई गाड़ी लेकर हमारा खून पीने ।" - कभी उसे देखकर मुस्कराता है, अगर महिला सुंदर हुई तो उसे "ग्रेसफुल" मानने की रियायत देता है ।[1] स्त्रियों का इस तरह मुक्त रूप से काम करना पुरूष सत्ता को भयभीत करता है । पुरूष अच्छी तरह जानते हैं कि वास्तव में स्त्री काम के प्रति पुरूषों की अपेक्षा अधिक सजग, जागरूक और ईमानदार है । मस्तिष्क के धरातल पर स्त्री भी उतनी ही विचारशील है जितना पुरूष । स्त्री शारीरिक स्तर पर ही कमजोर है, परन्तु आज की महिला ने शारीरिक सीमा को भी परे हटा दिया है । नारियों से प्रतिस्पर्धा में पुरूषों को एक प्रकार की ग्लानि महसूस होती है ।

नारी - मुक्ति की बाधा है नारी वर्ग । उसे पहले नारी से स्वतन्त्र होना है जो सम्भव नहीं, क्योंकि नारी बनाने की रूढ़ि समाप्त नहीं हो सकती ।

- -

1. काँटे की बात - 3, पृ.सं. 152

लेखन का क्षेत्र भारत में महिलाओं के लिए अपेक्षाकृत विरल और नया है, इसलिए रियायत, सरपरस्ती और पक्षपात अधिक है – स्त्री इसी का विरोध करती है । नारी चाहे तन खोले या मन, मर्दानी निगाहें रस और दिलचस्पी से देखती है ।[1] अगर दो अपरिचित पुरुष और महिला की रचनाएँ साथ-साथ छपी हो तो पहली निगाह महिला पर जाएगी ।[2] यहाँ अपरिचित होना महत्वपूर्ण है । अपरिचित नहीं हैतो निश्चित रूप से लेखन का ही मूल्यांकन होगा ।

राजेन्द्र यादव का मानना है कि स्त्री लेखन अभी उसकी अपनी सहज अभिव्यक्ति के रूप में नहीं, हमारी प्रतिक्रिया में से आया या प्रतिक्रिया उकसाता लेखन है । आरोप उस पर यह भी है कि अपने आपको खोलने में उसकी निगाह हमारे रीझने और खोजने पर ही ज्यादा है, अपनी भीतरी-बाहरी वास्तविक जरूरतों पर कम ।[3]

शिक्षा और संस्कार, उदारता और अनुशासन, नैतिकता और सदाशयता जैसी प्रेरणाओं से अभी तक हम यानी पुरुष ही तय किया करते थे कि नारी के तन और मन को कितना खोलना है और कितने बंधन उसकी "स्वतंत्रता" में बाधक है, या कितनी मुक्ति उसके हित में है अर्थात् कितने खुलेपन को हम खुद बर्दाश्त कर लेंगे । अब नारी खुद तय करना चाहती है कि उसे कहाँ और कितने बंधन चाहिए ।[4] परन्तु नारी अभी तक यह तय नहीं कर पाई

- -

1. कटि की बात- 3 - पृ.सं. 152
2. - वही - पृ.सं. 153
3. - वही - पृ.सं. 153
4. - वही - पृ.सं. 153

है कि उसके तन या मन के खोलने की सीमा क्या हो ? न ही तय कर पायेगी क्योंकि "ये पुरुष की मर्यादा है यानी वर्चस्व की व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का निर्वाह करने की जिम्मेदारी सिर्फ उसकी है । वर्ग और वर्ण कोई हो, सैक्स या शील की मर्यादाएँ तोड़ेंगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जायगी । अपने को दलितों में शामिल किये जाने के अपमान से तिलमिलाने वाली प्रबुद्ध और समृद्ध महिला भी शील और सैक्स की मर्यादाएँ तोड़कर अपनी हैसियत जाँच सकती है ।[1] वस्तुत: सामन्ती व्यवस्था ने उसे ऐसे अचूक तरीकों से जकड़ा है कि वहाँ छोटे से छोटे और बड़े से बड़े घराने की औरतों में कोई अन्तर नहीं है ।

सदियों से गुलामी और असुरक्षा के कारण उसका आत्मविश्वास कमजोर हो गया । उसे अपने होने और बनने के लिए पुरुष की स्वीकृति-समर्थन चाहिए । उसे पुरुष की प्रशंसा चाहिए । मुक्ति के लिए उसे अपने संस्कार बदलने होंगे और अपने अस्तित्व को स्वयं बनाना होगा । उसे पुरुष समर्थन और स्वीकृति वाले कुण्ठित नजरिये को बदलना होगा । लेखन प्रशंसा के लिए, न लिखा जाय, लेखन प्रशंसा के लिए बाध्य करें ।

जाहिर है कि हिन्दी की अधिकांश लेखिकाएँ उच्च मध्यवर्गीय परिवार से आयी है । आश्चर्य की बात है, अपनी सारी बौद्धिक प्रखरता और क्लास से ऊपर उठ जाने की घोषणाओं के बावजूद अधिकांश लेखिकाएँ प्रशंसाएँ लेने की इस कुण्ठा से मुक्त नहीं हो पातीं । निम्न मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय नारी की सोच में अन्तर होता है नारी अपनी अनुभूति को ईमानदारी से अभिव्यक्त नहीं कर पातीं । क्योंकि ईमानदारी के सामने समाज नैतिकता की सीमाएँ हैं । एक तो सदियों की कैद के कारण वैसे ही महिलाओं की बात-

---

1. हंस (औरत उत्तर कथा), सम्पादकीय - नवम्बर-दिसम्बर, 1994

चीत या लिखने का दायरा बहुत सीमित है, वहीं पति, बच्चे, सास, ननद और पड़ोसी, नौकर, मेहमान, गहने, कपड़े, आत्मप्रशंसा, अकेले और अनसमझे होने की यातना और आत्मदया- और फिर वहाँ भी 'टुकड़ो-टुकड़ों में बंटी ईमानदारी - सुरक्षित भूमियों में डरते-डरते बढ़ने और फिर सहमकर वापस अपने घोंसले में लौट आना - पति या परिवार के उधारी गौरव में जीना। हाँ, व्यक्तिगत रूप से महिला लेखिकाओं की ईमानदारी जितनी साहसहीन हो, समग्र लेखन एक-एक बात जरूर ईमानदारी से व्यक्त कर रहा है, वह है आर्थिक और सामाजिक निर्भरता के माहौल में नारी होने की व्यर्थता, अर्थ-हीनता और खोखलेपन का अभिशाप -सम्बन्धों के झूठे पड़ते जाने का दंश, फिर परिचित दुनिया में लौट आने या अपरिचित शून्य में छलाँग लगाने वाली 'आत्महत्याएँ।'[1] कुल मिलाकर आर्थिक और सामाजिक निर्भरता से मुक्त होना ही सही नारी मुक्ति है।

राजेन्द्र यादव का मानना है कि, जब तक अधिकांश महिलाएँ स्वयं अपने लेखन के प्रति अपना दृष्टिकोण नहीं जाँचती, और बदलती, तब तक न तो वे अपने आपसे ऊपर उठ पायेंगी न अपने वर्ग से। इसलिए बहुत क्रूर होकर इस रवैये की शल्य क्रिया की जरूरत है। उन्होंने नारी चरित्र एवं मन को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर जाना और समझा है। उनके अनुसार पुरुष की अपेक्षा स्त्री अपनी देह में ज्यादा कैद है। वह अपने शरीर से ऊपर उठना या उसे भूलना भी चाहे, तो न प्रकृति उसे ऐसा करने देगी, न समाज। उसका सारा सामाजिक मूल्यांकन, सबसे पहले उसके शरीर का मूल्यांकन है। गुण तो बाद में आते हैं। वह एक ऐसी 'दृश्यवस्तु' है जिसे अपनी सार्थकता पुरुष की निगाह से सुन्दर और उपयोगी लगने में पानी है। नार्सिसस या आत्म-मुग्ध हम सब है, मगर नारी जब अपने पर मुग्ध होती है तो उसकी निगाह में मूर्त

- -

1. काँटे की बात - 3, पृ.सं. 155

या निराकार पुरुष बैठा होता है । पुरुष वह शीशा है जिसके सामने वह हर समय अपने को निहारती है – चाहे वह एकान्त की ड्रेसिंग टेबिल हो या बिस्तर, बाजार हो या घर का लॉन । वह उसी आइने में चलती सोती है । यह आत्मग्रस्त औरत अपने लेखन में भी इसी व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देती है और जब तक आत्ममुग्ध है तब तक कभी "ग्रो" नहीं कर पाती, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है । यहाँ एक विरोधाभास को रेखांकित करना जरूरीहै । लेकिन अपने को तटस्थ होकर देखने की निगाह देता है और अपने आप को अपनी नहीं, पुरुष की निगाह से देखती है और उसी की दृष्टि में अपनी तृप्ति या होने का संतोष खोजती है । यह अपनी धुरी को छोड़कर "दूसरे" की दृष्टि में खो जाना है । "दूसरा" हो जाना है । लेखकीय तटस्था का अर्थ अपनी धुरी या केन्द्र पर बने रहकर दूसरे की दृष्टि से अपने को समझना है ।"[1] नारी लेखन में "दूसरे" यानी पुरुष की निगाह में अपना विसर्जन, एक विशेष पुरुष रवैये या रूढ़िवादी दृष्टिकोण का अनुमोदन है । यह अनुमोदनवादी या कन्फर्मिस्ट साहित्य लेखन रूढ़ियों के आसपास ही घूमता है, दयनीय विद्रोह का भ्रम देता है, स्त्री जब तक "अन्या" है या आत्मस्थ नहीं है, न वह अपने को अपनी निगाह से देख सकती है, न जी सकती है । हाँ, लिखना इस निदान की प्रक्रिया या प्रयास हो सकता है । वस्तुतः नारी को पुरुष निगाह से अपने को समझने की परम्परा को तोड़ना होगा । समाज के द्वारा बनाई सीमाओं से बाहर निकलकर अपने अस्तित्व को पहचानना अनिवार्य है ।

यह सुखद है कि समय का चक्र तेजी से घूम रहा है और आज स्त्रियाँ अपनी जगह तलाश रही है । अब स्त्रियाँ उतनी दबी हुई नहीं हैं, जितनी पहले थीं । उसने अपने लेखन से पुरुष प्रधान समाज में विशेष हलचल पैदा की है । समाज की आधी आबादी नारियों की है । वह अपने महत्व को समझ रही है।

---

1. कांटे की बात – 3 – पृ.सं. 156

नारी के बारे में पुरुष जो नहीं लिख पाया उसे स्वयं लिखना है । स्त्री के अपने लिए जगह तलाशने की प्रक्रिया {प्रयास} को "स्त्रीक्षेत्र" (Feminism) का नाम दिया जा रहा है ।

यह सच है कि नारी के बारे में पुरुषों द्वारा बहुत कुछ लिखा गया है । परन्तु कुछ ऐसे अनुद्घाटित पक्ष है जिनके बारे में स्वयं नारी ही लिख सकती है । उसकी कुछ ऐसी पीड़ा है जिसे पुरुष महसूस नहीं कर पाता ।

राजेन्द्र यादव लिखते है कि नारी का न कोई वर्ण होता है न वर्ग। नारियों की सीमा है उसका शरीर वह इस सीमा की मर्यादा जानती है । वह इस सीमा में ही सुरक्षित है - "वह पुरुष की मर्यादा है, यानी वर्चस्व व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का निर्वाह करने की जिम्मेदारी सिर्फ उसकी है । वर्ग और वर्ण कोई भी हो, सैक्स या शील की मर्यादाएँ तोड़ेगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जायेगी । अपने को दलितों में शामिल किये जाने के अपमान से तिलमिलाने वाली प्रबुद्ध और समृद्ध महिला भी शील और सैक्स की मर्यादाएँ तोड़कर अपनी हैसियत जाँच सकती है । उसे दिये जाने वाले सामाजिक पारिवारिक सम्मान, प्रतिष्ठा और पद हमारे द्वारा निर्धारित आर्थिक और नैतिक {सैक्स9} मर्यादाओं द्वारा तय होंगे । स्वयं उसने हजारों सालों में हमारी आकांक्षाओं और "एटीच्यूड्स" को इतना अधिक आत्मसात कर लिया है कि अपनी सीमाएँ "स्वयं" जानती है । वह यह भी अच्छी तरह जानती है कि इन मर्यादाओं को तोड़ने या कुछ "ऊँच-नीच" करने पर हत्या, आत्महत्या निष्कासन, बहिष्कार की सजाएँ उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं । मौका मिलते ही अमूर्त मर्यादाओं को मूर्त रूप देने के लिए जागरूक प्रहरी ही नहीं, सामाजिक परंपराएँ और शास्त्र सभी तैनात हैं ।"[1]

---

1. हंस - नवम्बर - दिसम्बर, 1994 - संपादकीय

नारी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सीमाओं से जकड़ी हुई है । आज की कामकाजी प्रबुद्ध महिला आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो रही है । परन्तु स्पष्ट है कि सामाजिक और धार्मिक संस्कारों से मुक्त होने में समय लगेगा ।

राजेन्द्र यादव लिखते है कि आज की नारी मानवी होने को अस्वीकार नहीं कर पाती और "देवी" होने का बोझ झाड़ नहीं पाती, इसलिए हमेशा एक अपराध बोध उसे भीतर से तोड़ता रहता है । महादेवी वर्मा की "श्रृंखला की कड़ियाँ" से लेकर सिमन द् बोउवा तक ने "सैकिंड सैक्स" में "देवत्व" के इन तिलिस्मों को तोड़कर वास्तविक औरत की प्रतिमा को झाड-खुरच कर साफ किया है ।[1]

कहना न होगा कि आज नारी मुक्ति-आन्दोलन एक नयी अवस्था में आ गया है, जहाँ स्त्री एक सह-नागरिक की तरह अपनी पहचान स्थापित करना चाहती है - इसके लिए उसका सारा प्रयास अब तक प्रयुक्त भाषा और मानसिकता के अस्वीकार और स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में स्वीकृति का है । यहाँ उसका संघर्ष दो धरातलों पर है, अपने व्यक्तित्व की स्थापना और उसके विरोध में कदम - कदम पर लगाये गये पुरुष बैरियर {प्रतिरोधक} ।[2]

वस्तुतः नारी को मुक्त होने के लिए दोहरा संघर्ष करना पड़ता है। एक अपनी शारीरिक सीमाओं और दूसरा पुरुष वर्चस्व से । स्त्री को शीर्षस्थ होने के लिए नारी न होना सिद्ध करना पड़ता है । वह अपने वर्ग पर खुले रूप से विशेष ध्यान नहीं दे सकती - ऊँचे पद पर पहुँचने के बाद नारियाँ अपने वर्ग के प्रति होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आँखे मूंद लेती है - यह सही है कि सारी दुनियाँ में, विशेषकर दक्षिण एशिया में कुछ महिलाएँ सत्ता

- -

1. हंस - नवम्बर-दिसम्बर, 1994 - संपादकीय
2. - वही -

के खेल में शीर्ष तक पहुँची है, गोल्डा मायर, मार्गरेट थैचर, इंदिरा गाँधी या आज बेनजीर भुट्टो, खालिदा जिया, चंद्रिका कुमारतुंगे, मगर वहाँ तक पहुँचने में उन्हें सबसे पहले अपना स्त्री न होना ही सिद्ध करना पड़ा है और शीर्षस्थ दलित नेता की तरह हमेशा चौकन्ना रहना पड़ा है कि वे कहीं अपने वर्ग के लिए विशेष पक्षपाती नजर न आये । कहना चाहिए कि उन्होंने स्त्री के लिए विशेष या तो कुछ किया ही नहीं है या बहुत डरते-डरते किया है । प्राय: स्त्री अत्याचारों के प्रति वे आँखें ही मूँदे रही है । उनके सत्ता सन्तुलन का एक हिस्सा शीलवती और भद्र महिला होने का अभिनय भी है, प्रतिपक्ष की ओर से उन पर हमला करने के हथियार धर्म और शरीयत की तोपें है । यह जरूर है कि अपने वर्ग के लिए उन्होंने स्वयं भले ही कुछ न किया हो, मगर उनके शीर्ष पर होने ने स्त्री उभार को बल बहुत दिया है । शायद उन्हीं की पृष्ठभूमि है कि आज चमत्कार की तरह अनेक क्षितिजों पर स्त्री अपनी शर्तों पर खड़ी दिखायी देती है - एक ओर सेवा और समर्पण में मदर टेरेसा है तो संघर्ष और जनांदोलन में मेधा पाटकर, सौन्दर्य और सम्मोहन में सुष्मिता सेन है तो सेक्स और शरीर में पामेला बोर्डेस, व्यवस्था और प्रशासन में किरण बेदी है तो ठीक उसके विरोध में फूल देवी । .... धर्म और जातिगत बलात्कारों के बीच अपने को साधे रखना शायद औरत के लिए सबसे बड़ी अग्नि-परीक्षाएँ है । देह के बलात्कार द्वारा कुचले जाने या पूरी तरह ध्वस्त हो जाने से इनकार करने वाली तो न जाने कितनी भंवरी बाइयां समाज और साहित्य में उठ खड़ी हुई है । यहाँ तक बता देना भी अप्रासंगिक नहीं है कि बलात्कार औरत के खिलाफ पुरुष का सबसे कारगर हथियार रहा है ।[1]

कहना न होगा कि बलात्कार वह दुर्घटना है जिसकी आशंका में जीने का अभ्यास स्त्री के सामाजीकरण की धुरी है । मेरा खयाल है कि स्त्री-

---

1. हंस - नवम्बर- दिसम्बर, 1994 - संपादकीय

पुरूष संबंधों के वे तमाम पहलू जिन्हें अपने दैनिक सामाजीकरण के तहत बच्चे हमारी आज की संस्कृति में सीखते हैं । बलात्कार की अवधारणा में ढूँढे-पहचाने जा सकते हैं । बलात्कार के प्रतीकार्थों की टोह में जाने के लिए पौरूष और ब्रह्मचर्य की अवधारणाओं पर ध्यान देना जरूरी है । संभोग को पौरूष के लिए एक चुनौती मानने की परंपरा रही है और पितृसत्ता ने इस परम्परा को दुनिया के कई समाजों में ठोस सांस्कृतिक आधार दिया है । हमारे समाज में इस परंपरा को शास्त्रसम्मत माना जाता रहा है, शायद इसी कारण उसके व्यावहारिक प्रभाव-क्षेत्र का दायरा नैतिक और लोप्रिय अर्थ में धर्मसम्मत मान लिया गया है । पौरूष की संकल्पना का यह विस्तार ब्रह्मचर्य की अवधारणा में सबसे स्पष्ट रूप में दिखाई देता है । बचपन और किशोरावस्था में लड़कों की शिक्षा-दीक्षा कैसी हो, इस सवाल पर लोकमन में सबसे गहरी पसरी अवधारणा ब्रह्चर्य की ही है । किशोर होने तक लड़कों का वास्ता ब्रह्मचर्य की लोकप्रिय अवधारणा से पड़ चुका होता है । यह अवधारणा स्त्री को लेकर एक गहरा डर किशोर - मन में पैदा कर देती है - इस बात का डर कि स्त्री वह सब छीन लेती हैं जो मेरी पुरूष होने की पहचान है । विवाह एक बड़ा जोखिम दिखने लगता है और स्त्री की निकटता की स्वाभाविक चाह स्त्री से निबट लेने की चुनौतीमें घुलमिल जाती है साधु - संतों और महापुरूषों की कई कहानियाँ और समाज में प्रचलित कहावतें स्त्री की आखेटक छवि को पुष्ट करने में मदद देती है ।

दूसरी ओर जीवन के दैनिक यथार्थ में लड़का स्त्री की भूमिकाबद्ध उपस्थिति के चारों ओर स्त्री की जिस "स्वतंत्र" प्रतीकात्मक उपस्थिति से घिरा होता है वह भी कम आक्रामक नहीं होती । इस प्रतीकात्मक उपस्थिति की रचना सिनेमा, टी.वी. और हर राह पर लगा विज्ञापन करता है, । स्त्री

की यह उपस्थिति मुख्यतः एक वस्तु के रूप में होती है । उसकी मनुष्यता बस इतनी रहती है कि वस्तु रूप होने पर भी वह मनुष्य होने का भ्रम पैदा करे । सिनेमा की कहानियों में स्त्री की भूमिकाबद्ध उपस्थिति भी इस तरह दर्ज की जाती है कि "वस्तुपक्ष" प्रधान रहे । फिर बंबइया फ़िल्म जगत का तो साँचा ही ऐसा है कि स्त्री के वस्तुरूप को उभारनेवाली सामाजिक भूमिकाएँ हर कहानी में अनिवार्य रूप से रहती हैं । विज्ञापन में स्त्री का वस्तु में रूपांतर एकदम साफ़ रहता है क्योंकि वहाँ सामाजिक भूमिकाएँ या तो होती नहीं है या फिर कहने भर की होती हैं, जैसे कि कपड़े धोने के साबुन के संदर्भ में पत्नी की भूमिका । विज्ञापन में एक वस्तु होती है जिसे बेचा जाना है, दूसरी वस्तु होती है स्त्री की छवि जो हमारे संस्कार जगत में पहले से "बिकी" हुई अवस्था में होती है । इस तरह एक बिकी हुई वस्तु एक अन्य वस्तु को बेचने में मदद देती है । स्त्री का यह सहज और निर्मम वस्तुकरण किशोर लड़के के मन में स्त्री के प्रति डर की भावना से उपजी आक्रामकता और प्रतिहिंसा को एक नई धार देता है । यह प्रक्रिया आधुनिक प्रसार माध्यमों की तरह निरंतर चलती है और स्त्री की मनुष्यता के एहसास के फूट निकलने की किसी भी संभावना पर रोक लगा देती है । ऐसी संकुल स्थिति में बलात्कार की पात्र के रूप में स्त्री का अंकन मनोरंजन का विषय बन जाये तो आश्चर्य की क्या बात है ? स्थिति की बनावट को समग्र रूप से देखें तो हम इस सत्य को पहचान सकेंगे कि बलात्कार और ब्रह्मचर्य की अवधारणाओं में पूरकता का रिश्ता है ।

उधर लड़की की दृष्टि में ब्रह्मचर्य के बारे में सोचे तो एक ही निष्कर्ष हाथ लगता है । स्त्री का कौमार्य और उससे जुड़े यौनशुचिता व अस्मत जैसे संस्कार पुरुष की कृपा को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ठहराते हैं । जिस आशंका

और डर से घिरकर लड़की अपना बचपन क्षण-क्षण माँगी जानेवाली जवाबदेही को निभाते हुए बिताती है वह आशंका किशोरावस्था के आने पर एक निश्चित रूप ले लेती है । वह रूप होता है बलात्कार का जिसकी सैकड़ों छवियाँ कहानियों में बलात्कार की घटना से आनेवाले निर्णायक मोड़ किशोर लड़की को इस कठिन सामाजिक सत्य को एक आखिरी कड़वे घूँट की तरह पी जाने के लिए तैयार करते हैं कि उसके जीवन की सार्थकता उसके अपने वश में नहीं है । यह सत्य दर्शन ही शायद उस हृदयविदारक आज्ञाकारिता का रहस्य है जो जलगाँव की शिक्षित लड़कियों ने अत्याचारी व्यभिचारियों के सामने वर्षों निभाई ।[1]

प्रसंगवश सुसन ब्राउन मिलर की पुस्तक "अगेंस्ट अवर विल" का स्मरण स्वाभाविक है । जिसमें उन्होंने लिखा है कि नग्न साहित्य बलात्कार की तरह पुरुषों की खोज है, स्त्री को अमानवीय बनाने के उद्देश्य से, स्त्री को यौन-वस्तु में बदलने के लिए, ना कि उसकी उत्तेजना और संवेदना को नैतिक मूल्यों से मुक्त करने के लिए । ऐसे साहित्य में हमेशा स्त्री के वक्ष और प्रजनन अंगों को ही दिखाया जाता है क्योंकि नग्न शरीर उसकी शर्म है । स्त्री के गुप्त अंगों को पुरुष अपनी व्यक्तिगत संपत्ति मानता है जबकि अपने अंगों को प्राचीन, धार्मिक, व्यापक, पितृसत्ता का प्रतीक, जो स्त्री पर जबरन राज करता है । अश्लील साहित्य विशुद्ध रूप से नारी विरोधी प्रचार है ।[2]

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में राजेन्द्र यादव की स्त्री विषयक दृष्टि को समझने के लिए उनके द्वारा लिखित "गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के खतरे" शीर्षक सुप्रसिद्ध निबन्ध पर तटस्थ होकर विचार करना अत्यावश्यक है

- -

1. विचार का डर - पृ.सं. 33
2. हंस, जनवरी - फरवरी - 2000 - पृ.सं. 169

जिसमें उन्होंने "ओ की कहानी" का विश्लेषण किया है । राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि दस - पन्द्रह वर्षों से सुना था इस उपन्यास ने फ्रांस में तहलका मचा दिया था । "ओ" को नारी शरीर का प्रतीक माना गया है, कहा गया है कि सेक्स-हिंसा की जो धारा मार्क्विस द साद ने स्थापित की थी, उसकी यहां पुनर्प्रतिष्ठा की गयी है । इतनी बात जरूर है कि उपन्यास अपने ढंग से झकझोर देनेवाली रचना है, और बेहद सावधान सजगता के साथ लिखा गया है - स्त्री के दृष्टिकोण से ।[1] जबकि सच्चाई यह है कि "स्टोरी ऑफ ओ" में पाल रीगे ने प्रतीकों और फैंटसी में चाहे जो भी कहना चाहा हो, प्रधान वह गंदा-अश्लील वर्णन है जो बीमार पुरुष - आधिपत्यवादी, यौन-कुंठित मानसिकता को मजा देता है । दूसरे, ओ की कहानी की सबसे घटिया और भयानक बेहूदगी यह है कि वह ओ की पराजित आत्मा को स्थापित करती है, उसकी गुलाम मानसिकता को अटल, तटस्थ सत्य के रूप में पेश करती है और यहीं रुक जाती है । तीसरे, पूरे घटनाक्रम का बयान औरत के यौन-उत्पीड़न की दास्तान के नाम पर उसे बेहद-बेहद अपमानित करता है ।

ओ की कहानी की प्रासंगिकता पर चर्चा के बहाने राजेन्द्र यादव भी उस गंदे अश्लील वर्णन के विस्तार में जाने से रंचमात्र भी चूके नहीं है और अश्लील अंग्रेजी पत्रिकाओं के "एरोटिका" जैसे कालम का रंग भर दिया है ।[2]

इस बहुचर्चित रचना का विश्लेषण करते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि "ओ की कहानी" अश्लील नहीं, आतंकप्रद है क्योंकि इसके पीछे पुरुष सत्ता की साजिश है । यों तत्व सारे वहीं "साद" वाले हैं । इस कहानी से पहले छपी और अपनी "अश्लीलता के कारण चर्चित फैंटसी" "आँख की कहानी" "स्टोरी ऑफ आई", (लेखक GEORGE BATAILLE) के परिशिष्ट में अश्लील लेखन की विशेषज्ञ सूजन सौंटेग ने अश्लीलता "फूहड़" या गंवारू शब्दों और संभोग

---

1. कांटे की बात - पृ.सं. 130
2. दुर्ग द्वार पर दस्तक का - पृ.सं. 35

क्रियाओं को बार-बार दोहराने में मानती हैं - या फिर विज्ञान कथाओं की तरह कल्पना के अतिमानवीय विस्तार में (जैसे बुरी तरह कोड़े और हंटरों से लहू-लुहान औरतों का अगले दिन फिर तरोताजा हो जाना, या पुरुषों का दानवीय अतिशयोक्तिपूर्ण पौरुष) । हैनरी मिलर जैसों में यह सिर्फ शब्दों और क्रियाओं के विवरणों तक ही सीमित है, हाँ खून, वीर्य और विष्ठा-प्रेम जरूर साद जैसा ही है । ओ की कहानी में यह दोनों ही नहीं है, शरीर के विभिन्न अंगों के नाम साद जैसे अहंकारी खुलेपन से नहीं, काफी शिष्ट और सभ्य ढंग से दिये गये हैं । जहाँ तक अप्राकृतिक संभोग दृश्यों या विकृत यौन-कृत्यों का सवाल है, उस के बारे में कॉलिन विल्सन बहुत पहले ही लिख चुका है कि जब से संभोग को हमने संतानोत्पत्ति से हटाकर आनंद का स्त्रोत बनाया, अप्राकृतिक दृष्टिकोण का सूत्रपात तभी से हो गया था । जब आनंद ही लक्ष्य हो तो अप्राकृतिक और विकृत कुछ नहीं होता न उसकी कोई सीमा होती है । यही वात्स्यायन भी कहते हैं ।[1]

वस्तुत: राजेन्द्र यादव को "ओ की कहानी" भारतीय लड़कियों और औरतों की इस आकांक्षा का विस्तार लगती है जो अक्सर कहती हैं कि जीवन साथी के रूप में उन्हें ऐसा मर्द चाहिए जो उन पर शासन कर सके, उन्हें डॉमिनेट कर सके, जो अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें चलाये -यानी जो उन्हें गुलाम बना ले । ओ के भीतर की गुलामी की यह आकांक्षा ही उसे क्रमश: कठपुतली बनाने की प्रक्रिया में डाल देती है । जब मैं अपने व्यक्तित्व को विसर्जित करके खुद को दूसरे के हाथों में सौंपती हूँ तो यह उसकी इच्छा है कि किस सीमा तक वह मेरा क्या करे । नाथे जाने के बाद जब सर स्टीफेंस ओ को एक होटल के अकेले कमरे में ले जाता है तो ट्रे में बाकायदा करीने से रखे कोड़े, हंटर, चाबुक

- -

1. काँटे की बात - 3 - पृ.सं. 132

सामने पेश करके उससे पूछा जाता है कि ओ किसका "स्वाद" लेना पसंद करेगी और वह इशारे से बताती है । ज्याँ पाल्हेन ने {लोगों को शक है कि उपन्यास इसी ने छद्म नाम से लिखा है, क्योंकि पाल्हेन के उपन्यास "इमेज़" की भूमिका लिखने के सिवा पालीं रेगे को न किसी ने कहीं देखा ... न उसका लिखा कुछ पढ़ा} भूमिका का नाम दिया है "गुलामी का आनंद" । इसमें "ओ की कहानी" की तेजस्वी वकालत की गयी है ।

यह सच है कि इस कथा के पात्र, जब कोड़े मारते हैं, गुदा या मुख-मैथुन करते हैं । {प्राय: स्वाभाविक मैथुन नहीं करते} तो साद के पात्रों की तरह उसमें आनंद नहीं लेते – सिर्फ एक कर्तव्य भावना की तरह तटस्थता से सारा काम सर अंजाम देते हैं । जैसे कोई डॉक्टर आप्रेशन कर रहा हो या कोई अघोरी तांत्रिक अनुष्ठान किया जा रहा हो ।

उधर गुलामी और यातनाओं में सुख और आंतरिक तृप्ति पाने वाली "ओ" की आकांक्षा है कि "हिम्मत हो तो मुझे इसी पिंजरे में कैद रखो, चाहो तो कभी-कभी थोड़ा दाना पानी दे दो. जो कुछ मुझे बीमारी या मौत के करीब ले जाता है, वही मुझे ज्यादा वफादार बनाता है। जब तुम मुझे यातनाएँ देते हो – तभी मैं अपने को अधिक सुरक्षित और संरक्षित महसूस करती हूँ । अगर तुम्हें ईश्वर की तरह अपना कर्तव्य पालन नहीं करना था तो मेरा ईश्वर बनने के लिए तैयार होने की भी कोई जरूरत नहीं थी...।

यही वह माँग करती है, "जब भी मेरे पास आओ तो तुम्हारे हाथ में चाबुक होना चाहिए ...मेरी कल्पना, मेरे ये उल्टे-सीधे सपने ही मुझे तुमसे दूर ले जाते हैं, तुम्हारे प्रति बेवफा बनाते हैं । मुझे कुचल डालो, इन सपनों से मेरी जान छुड़ाओ, मुझे शक्ति दो .. मेरे साथ जो भी तुम से बन पड़े, करो ताकि तुम्हारे प्रति बेवफा होने की मानसिक फुरसत ही मुझे न मिल पाये..."

ओ की माँग, उस भारतीय भक्त और साधक की माँग है जो अपने शरीर को सिर्फ इसलिए यातनाएँ देता है कि स्वप्न में ईश्वर के अलावा कुछ न सोच सके ... "ऐसी गु हौं जानता कि जैहे तु विसय के संग, ऐ रे मन मेरे हाथ-पाथ तेरे तोरतौं..." भारतीय पत्नी की इसी गुलामी को तो नीतिकारों ने महिमान्वित किया है, "सपनेहु आन पुरुस मन नाहीं..." भारतीय नारी जब उछ्वासित होकर कहती है कि "तुम्हारे बिना भी मैं कैसे जिंदा रही, अपने इस अपराध को कभी माफ नहीं कर पाऊँगी ..." तो वह ऐसी ही यंत्रणाओं वाले प्रायश्चित की माँग करती है । आज भी हजारों भारतीय सती-साध्वी पत्नियाँ पतियों द्वारा बाकायदा की जानेवाली पिटाई को उनका अधिकार या प्यार मान कर खुश रहती है । ओ इन यातनाओं के माध्यम से अपने इसी "स्व" के विसर्जन का "आनंद" भोगती है । कहने की जरूरत नहीं है कि नारी-मुक्ति के जवाब में ही शायद ओ की कहानी लिखी गयी है ... स्वतंत्र व्यक्तित्व और खुद अपने जीवन का चुनाव करने वाली औरतों के मुंह पर तमाचे की तरह ।[1]

सच तो यह है कि "ओ की कहानी" की प्रासंगिकता पर चर्चा के बहाने राजेन्द्र यादव भी उस गंदे अश्लील वर्णन के विस्तार में जाने से रंचमात्र भी चूके नहीं हैं और अश्लील अँग्रेजी पत्रिकाओं के "एरोटिका" जैसे कालम का रंग भर दिया है । सवाल यह नहीं है कि कहानी में स्त्री का यौन-उत्पीड़न चित्रित किया जाये या न किया जाये । अवश्य किया जाये । यह असंभव है कि न किया जाये । पर प्रश्न यह है कि जनता के साहित्य में, सर्वहारा साहित्य में यह किस प्रकार किया जाता है ? या किस प्रकार किया जाना

---

1. काँटे की बात - 3 - पृ.सं. 136

चाहिए ? उन्नीसवीं शताब्दी के आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्य में भी वेश्याओं, रखैलों, भगायी गयी और बदचलन औरतों की कहानियाँ आती हैं, पर वे स्थिति से गहरी वितृष्णा और विद्रोह का भाव पैदा करती हैं । समाजवादी यथार्थवाद की कृतियां तो इससे भी आगे हैं । गोर्की ने एकदम रसातल में, समाज के तलछट के रूप में पड़ी रहने के लिए अभिशप्त औरतों और वेश्याओं के चरित्र अपनी कृतियों में खड़े किये हैं । लुशुन और माओ तुन ने जमींदारों की रखैलों के जीवन तक को छुआ है । पर उनमें कहीं भी कोई बीमार, यौन-कुंठित या "सैडिस्ट" मन मजा नहीं ले सकता । कहीं भी अश्लीलता या औरत का अपमान नहीं आता । गोर्की ने "जब इंसान पैदा हुआ" कहानी में एक मजदूर औरत के बच्चा पैदा करने और खुद यह काम कराने का विस्तृत वर्णन किया है, पर इस प्रकार किया है कि संतानोत्पत्ति का नारी का काम एक उदात्त-अनूठा सर्जन-कर्म प्रतीत होने लगता है, नारी की गरीमा का अहसास होने लगता है । अपनी एक अन्य संस्मरणात्मक कहानी में गोर्की ने एक किसान द्वारा अपनी औरत को व्यभिचार करते हुए पकड़ लेने पर उसे एकदम नग्नावस्था में घोड़े से बांधकर पीटते हुए भरी भीड़ में घसीटने का वर्णन किया है, पर कहीं भी अश्लीलता या "यौन-रस" का भाव पैदा नहीं होता । पूरी स्थिति से सकर्मक घृणा का भाव ही पैदा होता है ।[1]

राजेन्द्र यादव की स्थापना है कि पुरुष श्रम के शोषण से गुलाम बना है तथा औरत सेक्स के शोषण से । जबकि सच्चाई यह है कि उन्होंने एक सर्व-स्वीकृत ऐतिहासिक सत्य को सिर के बल खड़ा कर दिया है कि औरत के गुलाम

- -

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक - पृ.सं. 35

बनने के बाद ही उसके सैक्स का शोषण शुरू हुआ । राजेन्द्र जी के उपर्युक्त अनैतिहासिक मंतव्य के मद्देनजर कात्यायनी ने ठीक ही सवाल उठाया है कि "श्रम का शोषण तो समाप्त हो जायगा, सैक्स के शोषण का क्या होगा । कात्यायनी का मानना है कि पूंजीवादी समाज में मौजूद श्रम का शोषण समाजवादी संक्रमण की लम्बी प्रक्रिया में समाप्त हो जायेगा, पर यदि औरत के सैक्स को ही शोषण का मूल कारण मान लिया जाय, तब तो यह मानना होगा कि यह हमेशा से है और कभी भी समाप्त नहीं होगा क्योंकि औरत हमेशा औरत ही रहेगी ।"[1] सच तो यह है कि औरत का यौन-शोषण मात्र इसी आधार पर नहीं होता कि औरत औरत है । यह इसलिए संभव हो सका है कि उसकी सामाजिक हैसियत घर-बाहर-सर्वत्र दूसरे दर्जे के नागरिक की है । और इस सामाजिक हैसियत का ताल्लुक उसके आर्थिक शोषण से है । औरतों की भारी आबादी गुलामों की फौज की तरह आज भी अनुत्पादक श्रम में लगी हुई है । इसी समानुपातिक संबंध में मध्यवर्ग की औरत भी मध्य वर्ग के पुरूष से अधिक शोषित है । उच्च वर्गों के औरतों की नागरिकता भी दोयम दर्जे की है, हालांकि अपनी-वर्ग-स्थिति के कारण वे नारी-मुक्ति संघर्ष के सही झंडे के नीचे कदापि संगठित नहीं होंगी ।[2]

निस्संदेह आज स्त्री की दशा में एक हद तक सुधार हुआ है । आज उसने जीवन के हर क्षेत्र में पुरूष सत्ता द्वारा निर्मित नियमों को तोड़ने का प्रयास किया है और इसमें वह सफल भी हो रही है । स्त्री सृष्टि का ही नहीं समाज का भी बड़ा हिस्सा है । उसकी स्वतन्त्रता की लड़ाई जायज है ।

---

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक - पृ.सं. 36
2. - वही - पृ.सं. 36

केवल देह के स्तर पर ही नारी पुरुष से अलग है । राजेन्द्र यादव का यह मानना है कि स्त्री का कोई वर्ग या वर्ण नहीं होता क्योंकि सभी नारी दलित होती है, में भी पौरूषिक अहं की गंध आती है । नारी और दलित शोषण को एक ही मानदण्डों से आंका नहीं जा सकता । नारी देह का शोषण दलित शोषण से सर्वथा भिन्न है । दलित स्त्रियों के लिए दलित पुरुष, सामन्ती पुरुषों से किसी भी नजर से अलग नहीं है । इस आधार पर सबसे दयनीय और सोचनीय स्थिति दलित नारी की है । यहाँ यह बात साफ हो जानी चाहिए कि उच्चकुल की नारी, कामकाजी नारी, और दलित नारी की पीड़ा कुछ स्तर पर भिन्न है । फूलन देवी पर फिल्म बनी बहुत बड़ा विवाद खड़ा हुआ । फिल्म का विरोध करने वालों में बड़ा खेमा नारी मुक्ति आन्दोलन के हिमायतियों का था । एक नारी का पुरुष सत्ता के विरुद्ध आक्रामक रूप उच्च वर्ग की नारियों को पसंद नहीं आया । नारी होने पर भी उनको फूलन की पीड़ा समझ नहीं आयी । दलित तो केवल फूलन थी। दलित और नारी को एक करना हास्यास्पद लगता है । राजेन्द्र यादव के अनुसार अगर "सभी नारी दलित है, तो संसद में 33% महिला आरक्षण में दलित महिला का अलग से आरक्षण का सवाल क्यों ?

इस संसार में यदि नारी न होती तो सभ्यता और संस्कृति कहीं खो गयी होती । अपने विविध रूपों में स्त्री ने पुरुषों को संवर्धन, प्रोत्साहन और शक्ति दी है । स्त्री को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए । परन्तु कुछ लोगों का मानना है कि नारी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है जबकि वैदिक काल में नारी पूर्णत: स्वतन्त्र थी । समाज में अनाचार बढ़ने से नारी पराधीनता की ओर समाज के ठेकेदारों की नजर गयी । मनुस्मृति में स्त्री स्वतन्त्रता को लेकर परस्पर विरोधी वक्तव्य मिलते हैं । जहाँ एक ओर मनुस्मृति में कहा गया है कि -

शोचन्ति जामयों यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।

जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही विनाश हो जाता है । जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न नहीं रहतीं, उस कुल की सर्वदा उन्नति होती है ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं । जहाँ नारियों की पूजा नहीं होती, वहाँ के सारे कर्म व्यर्थ है ।[1]

वहीं दूसरी ओर वहाँ स्त्री स्वतन्त्रता का कड़ा विरोध किया गया है । सब पुरुषों को चाहिए कि अपनी स्त्रियों को स्वतन्त्र न होने दे, किसी प्रकार विषयों में आसक्त होने पर भी उन्हें अपने वश में रखे, "कुमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, युवावस्था में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र स्त्री की रक्षा करता है, स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं ।" (मनुस्मृति 9-2-3)

प्रसंगात डॉ. बलदेव उपाध्याय लिखते है कि स्त्रियों का पूजन देवताओं के समाराधन का मुख्य साधन है नारी भारतीय संस्कृति में अतीव उन्नत गौरव की अधिकारिणी सदा से रही है । स्त्रीत्व के नाते उसमें स्वभाववशात् अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ स्वत: विद्यमान रहती है । इसीलिए तो भारतीय समाज-शास्त्रियों ने "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" का शंखनिनाद किया ।[2] बावजूद इसके डॉ. उपाध्याय की यह मान्यता बहस तलब है कि उपर्युक्त संस्कृत की उक्ति स्त्री-समाज की निंदा या अपमान का सूचक नहीं है, प्रत्युत्त वस्तु-स्थिति का द्योतक हैं ।

आज नारी का सारा संघर्ष अपने को मानवी रूप में पहचान दिलाने का है । नारी मुक्ति की झंडाबरदार धुआंधार भाषण कर्त्रियों और कथित

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - पृ.सं. 53
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास - पृ.सं. 115

'बोल्ड लेखिकाएँ' भी सुहाग चिन्हों एवं आभूषण प्रियता से मुक्त नहीं हो पायी है । यह आंदोलन पश्चिम की देन है इसमें केवल नारे बाजी और भटकाव है, न कोई दिशा न सिद्धान्त न ही एकता, उलटे पुरूष के चोट खाये अहं को उकसाकर उसके पाशविक वृत्तियों को खुलकर खेलने का एक अवांछित आमंत्रण । नारी न तो संपूर्णता प्राप्त कर पा रही है, न अपनी अस्मिता बनाए रख पा रही है । उसे अपनी अस्मिता के साथ स्वतन्त्र होना है । हर काल, हर युग में भावी समाज की सुरक्षा व अस्मिता माताओं के ही हाथ में होती हैं । तो मांग उठाई जानी चाहिए कि वर्तमान और भावी माताओं को व्यक्तित्व संपन्नता की सुविधा चाहिए । इसके लिए वैसा परिवेश चाहिए नहीं है तो वैसी व्यक्तित्व संपन्न प्रबुद्ध महिलाओं को उसे निर्मित करना चाहिए । इतिहास साक्षी है कि ऐसी महिलाओं का किसी काल में भी अकाल नहीं रहा । पर अपनी-अपनी जगह सफलता के सोपान चढ़कर भी वे मुट्ठी भर प्रबुद्ध और समाज नैतिक चेतना से संपन्न महिला जातिगत चेतना जगाने और समूह संपन्नता लाने का मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाई । इसीलिए जातिगत चेतना जगाना नारी मुक्ति का प्रथम चरण है ।

षष्टम अध्याय

पूंजीवाद एवं उपभोक्ता संस्कृति

षष्टम अध्याय

पूंजीवाद एवं उपभोक्ता संस्कृति

पूंजीवाद का आविर्भाव सर्वप्रथम योरोपिय देशों में, विशेषत: इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रान्स में हुआ था । फलत: पूंजीवाद से उत्पन्न होने वाली विषमताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप साम्यवादी विचारधाराओं का आरंभ भी इन्हीं देशों में हुआ, जिसका चरमविकास हम मार्क्सवाद के रूप में देखते हैं । आरम्भ में मार्क्सवादी विचारधारा योरोप के पश्चिमी देशों तक ही सीमित थी, परन्तु सोवियत संघ की स्थापना विश्व इतिहास की ऐसी घटना थी जिसने समस्त संसार को मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया । ... भारत में भी मार्क्सवादी विचारधारा का आगमन सोवियत संघ की स्थापना के पश्चात् ही हुआ है ।

---

1. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - पृ.सं. 6

मार्क्स-एंगेल्स ने लिखा है कि आधुनिक पूंजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग विरोधों को ख़त्म नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नयी अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिये हैं। किन्तु दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की विशेषता यह है कि उसने वर्ग विरोधों को सरल बना दिया है : आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक दूसरे के ख़िलाफ़ खड़े दो विशाल वर्गों में - पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में - अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।[1] जिन पेशों के संबंध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सब का प्रभामण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। डॉक्टर, वकील, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को उसने अपना उजरती मजदूर बना लिया है। पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल डाला है।[2]

उत्पादन के तमाम औज़ारों में तीव्र उन्नति और संचार साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूंजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहाँ तक कि बर्बर से बर्बर राष्ट्रों को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है। उसके माल की सस्ती क़ीमत एक ऐसा तोपख़ाना है जिसके ज़रिये वह सभी चीनी दीवारों को ढहा देता है, और विदेशियों के प्रति तीव्र और घोर घृणा रखने वाली बर्बर जातियों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर देता है। प्रत्येक राष्ट्र को, इस भय से कि अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा, वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनाने के लिए मजबूर कर देता है, वह उन्हें मजबूर करता है कि, जिसे वह सभ्यता कहता है, उसे वे भी अपने बीच क़ायम करें, अर्थात् ख़ुद पूंजीपति बन जायें।

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र - पृ.सं. 36
2. - वही - पृ.सं. 39

सांचे में, पूंजीपति वर्ग सारे जगत् को अपने ही सांचे में ढाल देता है । पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों के अधीन कर दिया है । उसने बहुत बड़े-बड़े शहर बसाये हैं और देहातों की तुलना में शहरों की जनसंख्या में प्रचंड वृद्धि की है, और इस प्रकार जनसंख्या के एक बड़े भाग को देहाती जीवन की जड़ता से मुक्त किया है । जिस तरह पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों का आश्रित बना दिया है, उसी तरह उसने बर्बर और अर्द्धबर्बर देशों को सभ्य देशों का, कृषक राष्ट्रों को पूंजीवादी राष्ट्रों का, पूरब को पश्चिम का आश्रित बना दिया है ।[1]

सर्वहारा वर्ग की मौजूदा अवस्था में पुराने समाज की अवस्थाओं का अब नाम-निशान तक बाकी नहीं रह गया है । सर्वहारा के पास कोई सम्पत्ति नहीं है, अपनी स्त्री और अपने बच्चों के साथ उसका जो सम्बन्ध है वह पूंजीवादी पारिवारिक सम्बन्धों से बिलकुल ही भिन्न है । आधुनिक औद्योगिक श्रम ने, पूंजी के आधुनिक जुए ने जो इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका और जर्मनी, सब जगह एक ही जैसा है - उसके राष्ट्रीय चरित्र के सभी चिह्नों का अन्त कर दिया है । कानून, नैतिकता, धर्म ये सब उसके लिए पूंजीवादी पूर्वाग्रह मात्र है, जिनकी ओट में घातक पूंजीवादी हित छिपेहुए हैं ।[2] उन देशों में जहां आधुनिक सभ्यता का पूरा विकास हो चुका है, निम्न पूंजीपतियों का एक नया वर्ग बन गया है जो सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच झूला करता है और पूंजीवादी समाज के एक पूरक अंग के रूप में सदा अपने को ताजा करता रहता है । लेकिन होड़ की चक्की में पिसकर इस वर्ग के अलग-अलग सदस्य टूट टूट कर बराबर सर्वहारा वर्ग में शामिल होते जाते हैं ।[3]

- -

1. कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणा पत्र - पृ.सं. 41
2. - वही - पृ.सं. 49
3. - वही - पृ.सं. 67

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था कितनी ही विकसित क्यों न हो जाय परन्तु वह स्थायी नहीं हो सकती। अन्ततः उसका पतन अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसके अन्दर कुछ ऐसी असंगतियाँ विद्यमान हैं जो उसकी शक्ति को खोखला करके उसे विनाश की ओर लिए जा रही है। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात का भी संकेत किया था कि पूंजीवाद के उन्मूलन का कार्य सर्वहारा-वर्ग के हाथों ही सम्पन्न होगा, क्योंकि यह वर्ग आजके युग का सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग है।[1]

राजेन्द्र यादव का मानना है कि अपराध का जन्म पूंजीवादी संस्कृति की कोख से ही हुआ है। इस निष्कर्ष में कुछ सच्चाई हो सकती है कि पूंजीवादी गलाकाट अंधी दौड़ और होड़ में अपराध एक अनिवार्यता है, क्योंकि एक ठहरे और बीते हुए समाज के नियम-कायदे और नैतिक अंकुश इस "विकसित और गतिशील" समाज में छिलके की तरह टूटने और छूटने लगते हैं। यहाँ तो अपने "उद्यम" का फल तत्काल चाहिए और वह सीधे रास्ते संभव नहीं है। अगर सफल होना है तो अपने विरोधियों और विपक्षियों को हटाना या ठिकाने लगाना ही होगा ... यह अड़ंगा, प्रतियोगी उद्यमी लगा सकता है, कानून और नियम-कायदे लगा सकते हैं या कोई ऐसा सिरफिरा लगा सकता है जिसके साथ अन्याय हुआ है या जो मानव कल्याण जैसे कीड़े का काटा हुआ है। पूंजी-निवेश के तत्काल परिणाम प्राप्त करने के लिए सारे ही वैध-अवैध तरीके इस्तेमाल करने होंगे। इसीलिए मारियो पूजों ने कहा है कि "हर सफल व्यवसायी के पीछे कोई न कोई अपराध होता है।" यानी अपराध पूंजीवादी व्यवस्था को गति देने वाला अनिवार्य तत्व है और बदले में वह सारे समाज को एक दूसरे को फाड़ खाने वाले हत्यारों और अपराधियों में बदल देने को अभिशप्त है। यानी समाज को अमानवीय और हिंस्त्र तो होना ही है, चाहे स्मैक खाने, खरीदने-बेचने को लेकर

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र - पृ.सं. 51

हो, दवाओं में पानी मिलाकर,हो, या छुरों, मुक्कों और मशीनगनों की धायं-धायं में हो । यहाँ सब एक दूसरे के "दुश्मन" है, अविश्वास और असुरक्षा के मारे ..... एक बुलडोजर है । जो रास्ते में आनेवाले हर अच्छे बुरे को कुचलता हुआ मस्त हाथी की तरह निर्द्वंद्व दौड़ रहा है । यहाँ तक कि जिनके आदेश से चल रहा है या जो बैठाकर चला रहें हैं वे खुद सुरक्षित नहीं हैं, पता नहीं कब विरोधी झपट्टा मारकर आये और कमरों में बंद संचालकों को भूनकर तंत्र और यंत्र दोनों को हथिया ले ।[1]

प्रसंगवश कार्लमार्क्स द्वारा लिखित "बुर्जुआ सभ्यता और अपराध" शीर्षक विचारोत्तेजक टिप्पणी की याद स्वाभाविक है मार्क्स ने लिखा है कि "दार्शनिक विचारों का, कवि कविताओं का, पादरी धर्मोपदेशों का प्राध्यापक कार्य-निर्देशिका का सृजन करता है, अपराधी अपराधों को जन्म देता है । यदि हम उत्पादन की इस बादवाली शाखा तथा समग्र रूप में समाज के बीच सम्बन्ध को बारीकी से देखें, तो हम अपने को बहुत-से पूर्वाग्रहों से छुटकारा दिला देंगे । अपराधी अपराधों का ही नहीं, अपितु दण्ड कानून का भी,और उसके साथ ही प्राध्यापक का भी, जो इस दण्ड कानून पर व्याख्यान देता है और उसके अलावा उस अपरिहार्य कार्य-निर्देशिका का भी सृजन करता है, जिसके माध्यम से यही प्राध्यापक अपने व्याख्यानों को माल के रूप में बाजार में खपाता है । यह अपने साथ राष्ट्रीय संपदा की संवृद्धि लाता है, उस वैयक्तिक आनन्दानुभूति के सर्वथा अतिरिक्त जो ..... कार्य-निर्देशिका की पांडुलिपि से स्वयं उसके जन्मदाता को मिलती है । यही नहीं, अपराधी पुलिस तथा दण्ड न्याय, पुलिस के सिपाहियों, जजों, जल्लादों, जूरियों आदि के पूरे समूह का सृजन करता है, और कारोबार की ये विभिन्न दिशाएँ, जिन्हें लेकर सामाजिक श्रमविभाजन के इतने ही नाना प्रवर्ग बनते हैं, मानव-आत्मा की नाना क्षमताओं का विकास करती हैं, नयी

- -

1. हंस - जून, 1991 - पृ.सं. 6

आवश्यकताओं का और उनकी तुष्टि के नये उपायों का सृजन करती हैं । अकेले यंत्रणा ने सर्वाधिक विलक्षण यांत्रिक खोजों को जन्म दिया है और इन औजारों के उत्पादन में अनेक इज्जतदार कारीगरों का उपयोग किया है ।"

"अपराधी भाव उत्पन्न करता है, जो स्थिति के अनुसार अंशत: नैतिक तथा अंशत: त्रासदीपूर्ण होता है, और इस तरह जनता की नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक भावनाओं को जगाकर सेवा करता है । वह केवल दण्ड कानून के बारे में कार्य-निर्देशिका का ही नहीं, केवल दण्ड संहिता का ही नहीं और उनके साथ इस क्षेत्र में विधायकों का ही सृजन नहीं करता है, अपितु कला, ललित साहित्य, उपन्यासों, त्रासदी प्रधान रचनाओं का भी, म्यूलनेर के "शुल्द" {दोष} शिलर के "राउबेर" {बटमार} नाटक का ही नहीं, अपितु सोफोक्लीज के "एडिपस" और शेक्सपियर के "रिचर्ड तृतीय" को भी जन्म देता है । अपराधी बुर्जुआ जीवन की नीरसता तथा प्रतिदिन की सुरक्षा को भंग करता है । इस तरह वह उसे गतिरोध से दूर रखता है और उस क्षोभकारी तनाव तथा फुरती को जन्म देता है, जिसके बिना प्रतियोगिता की प्रेरणा भी कुंठित हो जाएगी । इस तरह वह उत्पादक शक्तियों को प्रेरित करता है । जहाँ अपराध फालतू आबादी के हिस्से को श्रम मंडी से हटा देता है और मजदूरों के बीच स्पर्द्धा को कम करता है - उजरत को न्यूनतम सीमा से नीचे गिरने से कुछ हद तक रोकता है - वहीं अपराध के विरुद्ध संघर्ष आबादी के दूसरे हिस्से को जज्ब कर लेता है । इस तरह अपराधी उन स्वाभाविक "प्रतिभारों" के रूप में सामने आता है, जो सही संतुलन कायम करते हैं और "उपयोगी" कामधंधों की सारी संभावनाओं के द्वार खोलते हैं ।"

इसी क्रम में आगे उत्पादक शक्ति के विकास पर अपराधी के असर को तफसील के साथ दिखाते हुए व्यंग्यपूर्ण लहजे में मार्क्स लिखते हैं - अगर चोर

न होते, तो क्या ताले अपने वर्तमान परिष्कृत स्तर पर कभी पहुँच पाते ? अगर जालसाज न होते तो बैंकनोट तैयार करने का काम कभी आज का परिष्कृत रूप ग्रहण कर पाता? अगर तिजारत की धोखाधड़ियाँ न होतीं, तो माइक्रो-स्कोप क्या कभी साधारण तिजारत के क्षेत्र में प्रवेश कर पाता ? क्या प्रायोगिक रसायन मालों की मिलावट उसका पता लगाने की कोशिशों का उतना ही आभारी नहीं है, जितना की उत्पादन के लिए ईमानदारी भरे जोश का ? अपराध सम्पत्ति परअपनी निरन्तर नयी विधियों द्वारा प्रहार के जरिये बचाव की निरन्तर नयी विधियों का तकाजा करता है और इसलिए वह उतना ही उत्पादक है, जितना कि हड़ताले मशीनों के आविष्कार के लिए होती हैं । और अगर निजी अपराध के क्षेत्र को छोड़ दिया जाए, तो विश्व बाजार का क्या कभी राष्ट्रीय अपराध के बिना प्रादुर्भाव हो पाता ? दरअसल क्या राष्ट्रों का ही प्रादुर्भाव हो पाता ? क्या आदम के जमाने से ही पाप-वृक्ष साथ ही ज्ञान-वृक्ष नहीं रहा है ?[1]

"सोवियत संघ" के विखण्डन के मद्‌देनजर मार्क्स - एंगेल्स- लेनिन माओ के चिंतन की प्रासंगिकता के बारे में राजेन्द्र यादव लिखते हैं - निस्संदेह ऐतिहासिक समझ और सामूहिक संघर्ष की प्रेरणा - शक्ति के रूप में शताब्दी के प्रारम्भ से यह स्वप्न या विजन रहा है समाजवाद । अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसके विखंडन से हमारी संघर्ष चेतना को जबर्दस्त धक्का लगा । इस सत्य को समझने में अभी समय लगेगा कि जो टूटा और बिखरा है वह मार्क्सवाद नहीं, उसके आधार पर समाज-निर्माण का एक प्रयोग भर है । मार्क्सवाद आज भी दुनिया भर में, स्वतंत्रता, समता और न्याय के लिए लड़ने वालों के लिए एक मात्र दर्शन है । इस स्वप्न के टूटने का परिणाम यह हुआ है कि परलोक में

- -

1. साहित्य तथा कला - पृ.सं. 8।

में स्वतंत्रता, समता और न्याय के आश्वासन देने वाले धर्मोन्मादी भेड़ियों के झुंड के झुंड अपनी-अपनी मांदों से निकल आयें हैं । आखिर आदमी को सपना तो चाहिए ही ।"[1]

कहना न होगा कि आज के युग में सामाजिक परिवर्तन की कामना रखनेवाले तमाम जनवादी रचनाकारों की तरह ही राजेन्द्र यादव ने भी वर्तमान भूमंडलीकरण की चकाचौंध और संसदीय राजनीतिक तिकड़म की वास्तविकता को समझते हुए यह आत्मसात किया हुआ है कि विश्व के राजनीतिक पटल पर केवल मार्क्सवाद, माओ वाद, लेनिनवाद ही एक मात्र ऐसा मार्गदर्शक राजनैतिक सिद्धांत है जो सच्चे अर्थों में सामाजिक परिवर्तन और नये उन्नत समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है । दूसरे शब्दों में कहे तो यही एक मात्र दार्शनिक, आर्थिक राजनीतिक और गतिशील समाज विज्ञान है जो समाज को समझने के साथ उसे बदलने और विश्व-मानवता के उत्पादन के पथ को रौशन करता है । मानव समाज को शोषण उत्पीड़न के तमाम बन्धनों से मुक्त कर, काल्पनिक आदर्शों के घेरे से बाहर कर समाज के सर्वांगीन रचनात्मक समाजवादी विकास का मार्ग प्रदर्शित करता है । दुनिया के परिवर्तनकामी क्रांतिकारी शक्तियों के समक्ष सामाजिक परिवर्तन का ऐसा मार्ग प्रशस्त करता है जिसमें "समाज का सब कुछ समाज के लिए हो" अर्थात् "मानव का सब कुछ मानव केलिए हो" राजेन्द्र यादव के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों में सही भूमिका निभाने वाले साहित्य को शोषित उत्पीड़ित जनता के संघर्षों की वास्तविकता को उजागर करना चाहिए और आत्मचेतस तथा वंचितस जनता के क्रांतिकारी संघर्षों का प्रेरणा स्त्रोत बनना चाहिए । यह कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक की यदि एक ओर लेखक हर तरह से विचारों के क्षेत्र में सामंती सेंसर की कैद से अपने को मुक्त न कर ले

---

1. हंस - जून, 1991 - पृ.सं. 7

तथा दूसरी ओर बुर्जुआ रचनात्मक संबन्धों, व्यक्तिगत प्रसिद्धि, अवसरवादी प्रवृत्तियों एवं पद लोलुपता की लिप्सा से पूरी तरह स्वाधीन न हो जाय ।

नामवर सिंह ने लिखा है कि - बीसवीं शताब्दी का अंत जहाँ हो रहा है वहाँ सभ्यता से साफ अर्थ है पूंजीवादी सभ्यता । सभ्यता का यह औद्योगिक विकास, यांत्रिक विकास तथा इससे जुड़ी हुई जो समाज - व्यवस्था है, अर्थतंत्र है - इसी का नाम सभ्यता का विकास है । हम और आपसभी जानते हैं कि पहले का यानी और सब छोड़ भी दें तो लगभग सौ डेढ़ सौ साल पहले का स्वयं हमारा जैसा जीवन था या यह बनारस जैसा पचास साल जैसा था जो एक मंथर गति से- इत्मिनान से, कोई हड़बड़ी नहीं थी, ठेलमेल नहीं था - चल रहा था, सभी लोग एक दूसरे को नाम से जानते थे, चेहरे से पहचानते थे । आप कह सकते हैं कि एक पुराने ढंग का सामंती ग्रामीण समाज था जो करीब पचास वर्षों में बदलकर बहुत सभ्य हो गया है । बनारस और उस सभ्यता की छाप हम - आप अपने परिवार में, शिक्षा-संस्थाओं में, मैत्रिक संबन्धों में, कचहरियों तक में देख सकते हैं । यह सभ्यता का विकास है और इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि यह सारा का सारा विकास जुड़ा हुआ है उससे जिसे हम सुविधा के लिए पूंजीवादी समाज या पूंजीवादी सभ्यता कहते हैं । सच्चाई यह है कि 20वीं सदी के अंत में जहाँ हम खड़े हैं इससे पहले पूंजीवाद की कल्पना कर रहे थे कि समाजवादी तंत्र के सामने इसका तेज धूमिल पड़ेगा, मद्धिम पड़ेगा, यह कमजोर होगा, टूटेगा और विकल्प के रूप में एक अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समाज बनेगा जो भले ही बिल्कुल समाजवादी न हो वरन् समाजवाद के लक्ष्य और व्यवहार में समाजवाद ने अब तक जैसी व्यवस्था कायम की है, उसकी बुराइयों को छोड़कर और लोकतांत्रिक समाज की अच्छाइयों को लेकर एक विकल्प के रूप में उभरेगा । और यह विकल्प शायद तीसरी दुनिया

के जो देश कहे जाते हैं - उन्हीं के बीच से निकलेगा और विश्व मानवता के इतिहास के विकास में एक नया चरण होगा - पूंजीवाद और समाजवाद के टकराव से । ऐसा ख्याल था, ऐसा सपना हम पालते थे लेकिन बीसवीं शताब्दी के अन्त पर हम देख रहें है कि समाजवाद नष्ट हुआ या किया गया और वह पूंजीवाद जो डंवाडोल था, संकटों से घिरा था वह अपेक्षाकृत संकटमुक्त और स्थिर दिखाई पड़ रहा है । लोगों को लगता है कि पूंजीवाद का विकल्प नहीं है और यह भी 21वीं शताब्दी में भी रहेगा और संभव है इसी का परिवर्तित विकसित रूप कुछ इसी में से निकलेगा क्योंकि समाजवाद में से तो कुछ निकलने वाला नहीं है । ऐसा दिखाई पड़ रहा है । मैं नहीं कहता कि ऐसा सचमुच होगा, लेकिन इसको बड़े पैमाने पर प्रचारित किया जा रहा है । यह बीसवीं शताब्दी के अंत का जो पूंजीवाद है जिस पर हम सब विचार कर रहे हैं कंज्यूमर कल्चर विकसित कर रहा है । यह वह पूंजीवाद नहीं है जो मार्क्स के जमाने में था, जहाँ स्कूलों में सैमेल इसमाइल की किताबों का बड़ा महत्व था - सेल्फ हेल्प या थ्रिफ्ट जैसी किताबें पढ़ी जातीं थीं । उस समय जिस पूंजीपति ने विकास किया था - उदाहरण के तौर पर अपने बिरला वगैरह को ही ले तो ये जो बड़े सेठ रहे जिन्होंने उद्योगों का, धंधों का, तकनीक का विकास करके अपने देश में जिस रूप में पूंजीवाद का विकास किया -तो स्वयं उसका जीवन चरित पढ़े कि वे कितने मितव्ययी, धर्मप्राण, शराब न छूने वाले थे । यानी भले ही सेठों की बड़ी ही शोषक, क्रूर, संचयी तस्वीर हमारे उपन्यास में पेश की गई है वह पूंजीवाद था पर गौरतलब यह भी है कि उस पूंजीवाद ने अपनी एक विशेष सात्विक जीवन पद्धति द्वारा, त्याग द्वारा इतना विकास किया था और बहुत सारे सामंती मूल्यों को तोड़ा था । दूसरी ओर आज का पूंजीवाद भोगवादी है । अब वह उन्नीसवीं शदी का ओजस्वी-तेजस्वी

पूंजीवाद नहीं है । बल्कि यह बीसवीं सदी का पूंजीवाद है - भोगवाद पर आधारित के एफ सी और पेप्सी कोला की नस्ल का । स्पष्टतः बीसवीं सदी में सभ्यता के विकास के नाम पर सारे विश्व में ऐसी बुभुक्षा जगाने वाली भयानक भोगवादी सभ्यता का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है जो सिर्फ सामंती विकास ही नहीं है बल्कि इसकी नींव खून, रक्तपात और हिंसा पर हुआ करती है । यह वो भोगवाद नहीं है जिसे हम रईसों के साथ देखते हैं । यद्यपि भोग में खुद के द्वारा मार कर लाये गए शिकार का गोश्त खाने में जो मज़ा है वह दूसरे के द्वारा मारकर लाये गये और सामने परोसे गए गोश्त में नहीं है । इसलिए बर्बरता और भोगवाद, नरसंहार और भोगवाद ये दोनों परस्पर भयंकर रूप से जुड़े हैं । मैट्रो चैनल पर आई फिल्म "धारावी" जिसमें ओमपुरी काम करते हैं और जिसमें खून ही खून भरा है - एक संकेत है । यह यूँ कि जब सभ्यता अपने चरम पर पहुँचती है तो सभ्यताओं में एक महाभारत होता है और सारा का सारा अतीत नष्ट हो जाता है - एक नईसभ्यता बनती है । ... मार्क्स ने जब पूंजीवाद के बारे में शुरू के दिनों में लिखा था जो कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में अद्भुत कवित्वपूर्ण वाक्य है - पूंजीवाद के आते ही सारी पवित्र चीज़े अपवित्र हो गई । जो चीज़ मुफ्त में दे देने की थी आज वह बेचने-खरीदने की हो गई । जैसे विद्या, प्रेम । कुछ भी पवित्र नहीं रह गया । उसने लिखा - All that is solid melts into air । उस नाते उसने कहा था कि जो भी मनुष्य के जीवन में पवित्र है, सुन्दर है, इस पूंजीवाद ने उसकी सुन्दरता नष्ट की है, पवित्रता कलुषित की है, धर्म जैसी पवित्र चीज भी बेची-खरीदी जाती है । यह चाकू, खंजर बन गया है । जैसे गोगोल ने कहा था कि संस्कृति का नाम सुनता हूँ तो मेरा हाथ पिस्तौल पर चला जाता है । उसी तरह से मजहब का नाम कोई लेता है तो मेरे सामने बम और छुरे चमकने लगते हैं । और यह पूंजीवादी सभ्यता ने किया है । मार्क्स ने यह तब लिखा और इस नाते साहित्य और कला के दुश्मन हैं । अब आप सोचिए कि सैकड़ों वर्ष पूर्व का पूंजीवाद जो

अपेक्षाकृत अच्छा था यह कह सकता . था तो आज बीसवीं सदी का भोगवादी पूंजीवाद उन्हीं सुन्दर पवित्र चीजों के साथ कैसा व्यवहार कर सकता है ? उन्हें क्या बना सकता है ? क्या आप इसका अंदाजा लगा सकते हैं ।[1].... आज भी किसी की समझ में अगर यह बात पड़ी हुई है कि विकास की प्रक्रिया में पूंजीवाद खुद ही समाजवाद में परिवर्तित हो जायगा और क्रांति की ~~xxxxxxx~~ आवश्यकता नहीं पड़ेगी, तो कहना न होगा कि आज भी, वह बर्नस्टीन और काउत्स्की का अनुयायी बना हुआ है । "संसद में बहुमत प्राप्त करना" तथा "संसद को पूंजीवादी अधिनायकत्व से स्थानान्तरित करके जनता की सच्ची राजसत्ता का उपकरण" बनाने की समझ ही, संभवतः लोकतांत्रिक समाज की अच्छाइयों की मीनारें हैं, जिसकी असलियत की पोल खोलते हुए लेनिन ने सर्वहारा को ठीक ही सीख दी है - "पूंजीपति को शान्तिपूर्ण ढंग से बहुसंख्यक शोषितों की इच्छा के अधीन बनाने तथा समाजवाद में शांतिपूर्ण ढंग से संक्रमण करने का विचार न सिर्फ चरम मूर्खता है, बल्कि मजदूरों को सरासर धोखा देना है, पूंजीवादी दासता को आकर्षक बनाना है, सच्चाई पर पर्दा डालना है।" ... मार्क्स - एंगेल्स-लेनिन-स्टालिन-माओ ही मार्क्सवादी दर्शन के असली प्रकाश स्तंभ हैं । इनकी मूल प्रस्थापनाओं को तोड़ने - मरोड़ने, संशोधित करने या छोड़ने का मतलब है समाजवाद को छोड़ना और यह करके कोई भी अन्ततः बुर्जुआ घेरे में ही पहुँचेगा । 1956 में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का शिकार हुआ सोवियत संघ आज अस्तित्व में भी नहीं बचा है और चीन, भी, देंग के शासन काल में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के परवान चढ़ गया और आज हालत यह है कि नाकों चने चबाने के बाद भी, साम्राज्यवाद की गोद में सरकते जाने से अपने को बचा नहीं सकता। साम्राज्यवादी दौर के दो प्रधान मल्लों - पूंजीवाद और समाजवाद - में जीवन मरण का संघर्ष छिड़ा हुआ है । मनुष्य की जिजीविषा और सिसृक्षा की कड़ी

- -

1. पहल - 53, जनवरी-फरवीर-मार्च, 1996 - पृ.सं. 52

में, मानवता के अगले कदम-समाजवाद को ही अन्ततः जीतना है । पर यह दो-चार-दस सालों का मामला नहीं है । रूस में सर्वहारा सत्ता के कायम हो जाने के बाद, एक अवसर विशेष पर, लेनिन ने यह महत्वपूर्ण समझ व्यक्त की थी कि - पूंजीवाद जीतेगा या समाजवाद, इसकी सुनिश्चितता के लिए एक लंबा ऐतिहासिक दौर लगेगा ।[1]

जाहिर है कि कुलमिलाकर आज भी हम साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांतियों के युग में जी रहे हैं । लेनिन ने ठीक ही साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की चरम-अवस्था के रूप में रेखांकित किया है । मौजूदा समय में पूंजीवाद ने जिन दो प्रमुख अभिलाक्षणिक परिघटनाओं को पैदा किया है वे हैं - वित्तीय अर्थव्यवस्था का वास्तविक अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर आसीन हो जाना और रोजगार विहीन विकास । आज वित्तीय अर्थ-व्यवस्था अभूतपूर्व रूप से एक वित्तीय अधिरचना का निर्माण कर चुकी है । और समूची विश्व-अर्थव्यवस्था पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुकी है । वैसे तो वित्त-पूंजी का चलन उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं पूंजीवाद का - क्योंकि दोनों सहजात ही है - पर आज के दौर में यह वास्तविक यानी उत्पादन अर्थव्यवस्था से विच्छिन्न होकर एक वर्चस्वशाली सट्टाबाजार की अर्थव्यवस्था में तब्दील हो चुकी है । आज यह एक चौंकाने वाला तथ्य उपस्थित हो चुका है कि जहाँ लम्बे समय से यह मान्यता चली आ रही थी कि पूंजीवादी समाज में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केन्द्र मुट्ठीभर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों के काउंसिल रूम्स में स्थित होता है, वहीं अब यह केन्द्र सरक कर वित्तीय बाजार में चला गया है । आज स्थिति यह है कि साम्राज्यवादी देशों या उनके बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने राष्ट्र से बाहर जाने वाले हर 8 डालर में से 7 सट्टाबाजार में जा रहे

- -

1. पहल - 54, जून-जुलाई-अगस्त - 1996 - पृ.सं. 17

हैं । यह एक अभूतपूर्व, गैर-क्लासिकीय स्थिति है । यहां पर ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मनार्ड कीन्स को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा, जो उन्होंने 1936 में कहा था :

"सट्टेबाजी एक बुलबुले के रूप में कोई हानि नहीं पहुँचा सकती बशर्ते कि उद्यम एक सुस्थिर प्रवाह में गतिमान रहे । लेकिन स्थिति तब गंभीर हो जाती है जब उद्यम ही सट्टेबाजी के जलावर्त में एक बुलबुला बन जाता है । जब तक देश का पूंजीवादी विकास एक जुएखाने का उप-जात (by product) बन जाता है, तब कारोबार एक दुष्कृत्य बनने लगते हैं ।[1]

कीन्स ने यह टिप्पणी खासतौर से उस स्थिति को देखकर की थी जो 1920 के दशक के अन्त से अमेरिका में परिलक्षित होने लगी थी - उस समय अमेरिका विश्व का सबसे विकसित पूंजीवादी देश था । ऐसा लगता है कि जैसे यह एक अशुभ-सूचक भविष्यवाणी थी जो लगभग आधी शताब्दी बाद, खासतौर से 1980 और 1990 के दशकों में, केवल अमेरिका पर ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व-पूंजीवाद पर चरितार्थ होने वाली थी । और आज यह चरितार्थ हो चुकी हैं ।

वस्तुत: वित्त-पूंजी का कार्य वास्तविक अर्थव्यवस्था में "आयलिंग-ग्रीसिंग" करने वाले एक सहायक का कार्य होता है पर, जैसा कि प्रसिद्ध मार्क्सवादी अर्थशास्त्री पॉल एम.स्वीजी का कहना है :

वित्त पूंजी मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले उत्पादन की वास्तविक अर्थव्यवस्था के एक विनम्र सहायक की अपनी मूल भूमिका से एक

- -

1. दायित्वबोध - नवम्बर, 95, फरवरी, 96 - पृ.सं. 17

बार जब विच्छिन्न हो जाती है, तब यह अपरिहार्यत: सट्टेबाजी की पूंजी बन जाती है और एकमात्र अपने को ही अभिव्यक्त करने लगती है । पूर्ववर्ती कालों में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सट्टेबाजी की पूंजी, जो उतनी ही पुरानी परिघटना थी जितनी कि स्वयं पूंजीवाद, इतनी आगे बढ़ जायेगी कि एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर कौन कहे, समूचे विश्व पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेगी । लेकिन ऐसा हो चुका है ।"[1]

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में सवाल उठना वाजिब है कि आखिर विश्व-पूंजीवाद की इस वर्चस्वकारी बन चुकी परिघटना की जड़ें कहाँ हैं । सच तो यह है कि स्वयं पूंजीवादी-अर्थव्यवस्था अर्थात् उसकी वास्तविक उत्पादन अर्थव्यवस्था में एक ऐसा अभूतपूर्व रूप से ठहराव आ चुका है जिसका तत्काल कोई समाधान उसके परिचालकों के पास शायद नहीं है ।

आज वित्तीय पूंजी भारत समेत लगभग प्रत्येक राष्ट्र और समूचे विश्व की अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर एक वित्तीय अधिरचना निर्मित कर चुकी है । वस्तुत: पूंजीवाद दो-दो महायुद्धों के दरम्यान जिस ठहराव की स्थिति में आ गया था, वित्तीय अर्थव्यवस्था का वास्तविक अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर आसीन हो जाना कुलमिलाकर उसी ठहरावग्रस्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तार्किक परिणति है । इसको स्पष्ट करने के लिए यहाँ पाल एम.स्वीजी को पुन: उद्धृत करना आवश्यक है :

"वास्तविक अर्थव्यवस्था जो मालों और सेवाओं का उत्पादन करती है जिसमें लोग जीवनयापन करने और पुनरुत्पादन करने में समर्थ होते हैं, अल्पतंत्रात्मक इजारेदारों की एक अत्यन्त लघु संख्या के कब्जे में हैं । यह इस तरह संरचित है कि इन्हें भारी मुनाफे दे, यहाँ तक कि उनके उपभोग की आवश्यकता और सामर्थ्य

---

1. दायित्वबोध- नवम्बर, 95- फरवरी, 96 - प.सं. 17

से भी अधिक पूंजीपति होने के नाते वे अपने मुनाफे का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा निवेश करना चाहते हैं । पर जो संरचना उन्हें भी यह मुनाफे प्रदान करती है वही उसकी बुनियादी आबादी की आय पर कठोर सीमाएँ भी थोप देती है । वह उत्पादों को किसी तरह बस उन्हीं प्रचलित कीमतों के स्तर पर खरीद पाती है जो अल्पतंत्रात्मक इजारेदारी को प्रचलित दर पर मुनाफा देते रहने के लिए निर्धारित की गयी होती है । अतः व्यापक उपभोग के लिए माल पैदा करने की क्षमता बढ़ाने से कोई मुनाफा नहीं हो सकता । ऐसा करना क्षमता से अधिक निवेश करना होगा, जो निश्चित तौर पर एक पूंजीवादी मुद्दता ही होगी। तब वे अपने मुनाफे का क्या करें ?

"तब वे वास्तविक उत्पादन में नहीं, बल्कि वित्तीय परिसम्पत्तियों में निवेश करते हैं । इसकी शुरुआत बढ़ते पैमाने पर 1970 के दशक में ही हो, गयी जब अर्थव्यवस्था एक बार फिर ठहराव में डूबने लगी थी । इसीकी परिणति वित्त पूंजी की विजय के रूप में हुई है ।"[1]

इस प्रकार वित्त पूंजी की वर्तमान वर्चस्ववाली स्थिति ने पूंजीवाद की वास्तविक अर्थव्यवस्था को पछाड़ दिया है । यह आज के पूंजीवाद की एक ऐसी गैर-क्लासिकीय परिघटना है जिसने पूंजीवाद की असमाधेय विसंगति और तर्कहीनता को पूरी तरह से बेनकाब कर दिया है ।

"भूमण्डलीकरण" और "नयी विश्वव्यवस्था" के इस चरण में एक और सर्वथा नयी अभिलाक्षणिक परिघटना प्रकट हुई है : "रोजगारविहीन विकास" । अर्थात् अब आर्थिक विकास रोजगार के अवसर नहीं देगा । वैसे तो पूंजीवाद

- -

1. दायित्वबोध - नवम्बर, 95, फरवरी, 96 - पृ.सं. 18

अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही कभी भी रोजगार निर्दिष्ट नहीं रहा है : रोजगार का सृजन हमेशा ही उसके लिए एक आनुषंगिक और उस मुनाफाखोरी और पूंजी संचय का एक उपजात भर रहा है जो उसकी मुख्य-चालक शक्ति है, फिर भी इसके पूर्व कभी भी इसने इतने खुले तौर पर "रोजगारविहीन विकास" का नारा नहीं दिया था । यह सही है आज वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति ने स्वचालन को इस हद तक सक्षम बना दिया है कि अब वह प्रत्यक्ष उत्पादन के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सेवाओं के क्षेत्रों आदि में भी प्रत्यक्ष और तात्कालिक श्रम को लगभग पूरी तरह बहिष्कृत करके भी काम चला सकता है - और वस्तुत: वह ऐसा कर भी रहा है - लेकिन यह भी उसकी वास्तविक अर्थव्यवस्था के उसी संकट का सूचक है जिसके कारण अब वह अपने मुनाफे का बहुलांश वित्तीय बाजार और खासतौर से सट्टाबाजार में निवेश कर रहा है

इस विषम सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थिति के मद्देनजर साहित्यिक रचनाशीलता में आये बदलाव को चिन्हित करते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि बदलते समय में कलात्मकता का सौन्दर्यशास्त्र भी बदला है और न्याय मांगने {यानी प्रतिबद्धता} के क्षेत्र भी बदले हैं । उनके अनुसार साहित्य, मनुष्य की अवधारणा से अधिक जीवित मनुष्य के लिए न्याय की पुकार है ।

"साहित्य मनुष्य के लिए है" एक वायवी वक्तव्य है जबकि सचाई यह है कि अपने देश, समाज, भाषा में होने या बंधे होने के कारण वह कुछ को ही संबोधित होता है - मगर सबकी नुमाइंदगी का दावा करता है । वह अपनी तरफ से "सब का" होता है, मगर सब का "अपना" नहीं होता । वह अधिक से अधिक लोगों का अपना हो सके या जिनके लिए है उनके जीवन का हिस्सा भी बन सके, इसके लिए उसे उनके रोग-शोक, हर्ष-विषाद से भी जुड़ना होगा, उन्हें सहभोक्ता बनना होगा । यह उनकी भौतिक अवस्थिति और मानसिक स्थिति जाने बिना संभव नहीं है । यहीं बदलते कला-बोध और कलात्मकता

को साधने की जरूरत है । क्योंकि न प्रतिबद्धता स्थिर तत्व है, न कलात्मकता अपरिवर्तनीय । दोनों के प्रतिमान हमेशा बदले हैं । जो पहले कलात्मक था, वह आज फूहड़ सामंती और बासी लगता है । या जो एक वर्ग के लिए कलात्मक है, वह दूसरे के लिए अपरिचित, या अश्लील है । कम से कम अस्वीकार्य तो है ही ।

मार्क्सवाद के अस्वीकार के साथ प्रतिबद्धता मात्र का विरोध करना, लगभग साहित्य को अस्वीकार करने जैसी बात है । क्योंकि अगर साहित्य, व्यक्ति या समाज के लिए न्याय और स्वतन्त्रता की मांग है, तो यह मांग न मार्क्स के साथ शुरू हुई थी, न उसके साथ समाप्त होगी । मार्क्स से भी पहले, हजारों सालों से आदमी न्याय की माँग करता रहा है, यानी अन्याय के खिलाफ लड़ता रहा है - व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर । मार्क्स ने किया सिर्फ इतना कि न्याय की इस लड़ाई को एक तर्क और तरतीब देकर दर्शन बना दिया । जैसा कि कहते है, सेब तो न्यूटन से भी पहले न जाने कब से गिरते रहे हैं, मार्क्सवाद नहीं होगा तो क्या अन्याय के खिलाफ लड़ाईयाँ खत्म हो जायगी ।

मार्क्सवाद का नाम ले या न लें, लेकिन क्या यह सच नहीं है कि आधी दुनिया साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की शिकार सदियों से रही है । पहले सैन्य-शक्ति के सहारे लूटा जाता था, आज पूंजी के बल पर लूट का ग्लोबलाइजेशन हो रहा है । खुली अर्थ-नीति का मतलब है लूट की अप्रतिरोध छूट - इस "विश्वविजय" को आसान बना रहा है - मीडिया, सांस्कृतिक आक्रमकता अंग्रेजी की एकछत्रता । ऐसे परिदृश्य में क्या सारी कलात्मकता, एक विशेष निरंकुशता को स्वीकार्य बनाने की रणनीति नहीं लगती ? साहित्य के स्वायत्त होने की माँग- इस सबसे अपने को स्थगित या अनुपस्थित करने की वकालत के सिवा और क्या है ? दूसरे शब्दों में इस सारे प्रदूषण या ज्ञान-विज्ञान की अन्य

धाराओं के "शुद्धत्व" से अपने "शुद्धत्व" को बचाए रखने का वर्णवादी अहंकार भी इसे कह सकते हैं । जहाँ यातना, संघर्ष और स्वप्न नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ रहे हैं उस ओर पीठ करने की कला भी इसे कह सकते हैं । अगर रचना का जन्म वेदना और करुणा से हुआ है तो उसकी सीमाएँ सिर्फ "आत्मकरुणा" और "आत्मदया" तक नहीं है । अपने आपका अतिक्रमण भी कला की अनिवार्य शर्त है - अपनी करुणा से दूसरे तक पहुँचना, मदर टेरेसा को सुंदर भी बनाता है और कलात्मक भी । यह स्थिर सौंदर्य नहीं । गतिशील और जीवन्त सौंदर्य फूल-पत्ती, आसमान, समुद्र को सराहने से आगे की यात्राएँ यहीं से शुरू होती हैं ।

सच तो यह है कि हमारे देश की पूंजीवादी राजनीति और संसदीय जनतंत्र की हालत दलदल में फँसे हुए हाथी जैसी हो गयी है । इस दलदल से निकलने का कोई भी प्रयास उसे दलदल में और अधिक गहरे धसा दे रहा है । बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की शुरुआत में उदारीकरण- निजीकरण की नीतियों के साथ शुरू हुआ पूंजीवादी राजनीति के संकटों का यह अभूतपूर्व दौर कैसे और किस रूप में जाकर थमेगा, इस बारे में पूंजीवादी राजनीति के चिंतित सिद्धान्तकार और राजनीतिज्ञ कोई भी कारगर फार्मूला नहीं निकाल पा रहे हैं और मजबूरन उन्हें यह घोषणा करके ही सन्तुष्ट होना पड़ रहा है कि गठबंधन सरकारों का एक स्थायी दौर शुरू हो चुका है और इस वास्तविकता की सीमाओं के भीतर ही राजनीतिक स्थिरता के फार्मूले खोजे जाने चाहिए ।

कहना न होगा कि उपभोक्तावादी संस्कृति का जन्म इसी पूंजीवादी व्यवस्था की कोख से हुआ है । यह संस्कृति मूल रूप से पूंजीवादी उत्पादन और वितरण प्रणाली की उपज है । समाज के हर क्षेत्र के व्यावसायीकरण की प्रक्रिया में पूंजीवादी समाज ने मनुष्य की सहज उपभोगवृत्ति का व्यावसायीकरण कर इस संस्कृति को जन्म दिया है । जिसने समाज के हर पहलू को बाजार से जकड़ लिया

है । पूंजीवादी सभ्यता ने संचार माध्यम का सहारा लेकर उपभोक्तावादी संस्कृति का ऐसा प्रचार-प्रसार किया कि बच्चे से लेकर बूढ़ा तक इसकी चपेट में आ गया है । साहित्यिक विधाएं भी इस संस्कृति से मुक्त नहीं है । विज्ञापनों ने दूरदर्शन को उपभोक्ता माध्यम बनाया है । दूरदर्शन को विज्ञापनों के जरिए होने वाले मुनाफे में पिछले एक दशक में दस गुना इजाफा हुआ है । इसका दुष्परिणाम यह सामने आया है कि इन विज्ञापनों के कारण समाज में एक ऐसी उपभोक्तावादी संस्कृति पैदा हुई है जिससे मुक्त होना तत्काल कठिन प्रतीत होता है । पिछले दशक के आरंभ से उपभोक्तावाद हमारे देश में काफी चर्चित है । यह संस्कृति हमारे समाज की नींव को हिला रही है ।

श्यामाचरण दुबे ने उपभोक्तावादी संस्कृति को बड़े ही सरल और सुंदर ढंग से परिभाषित किया है - "विलासिता की सामग्रियों से बाजार भरा पड़ा है जो आपको लुभाने की जी तोड़ कोशिश में निरंतर लगी रहती है । दैनिक जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं को ही लीजिए । टूथ-पेस्ट चाहिए यह दांतों को मोती जैसा चमकीला बनाता है, यह मुंह की दुर्गंध हटाता है, यह मसूड़ों को मजबूत करता है और यह "पूर्ण सुरक्षा" देता है । यह सब करके जो तीन-चार पेस्ट अलग-अलग करते हैं । किसी पेस्ट का "मैजिक" फार्मूला है । कोई बबूल या नीम के गुणों से भरपूर है, कोई ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत तथा मान्य वनस्पति और खनिज तत्वों के मिश्रण से बना है । जो चाहें चुन लीजिए। यदि पेस्ट अच्छा है तो ब्रुश भी अच्छा होना चाहिए । आकार, रंग, बनावट पहुंच और सफाई की क्षमता में अलग-अलग, एक से बढ़कर एक । मुंह की दुर्गंध से बचने केलिए माउथ वाश भी चाहिए । सूची और भी लंबी हो सकती है पर इतनी चीज़ों का ही बिल काफी बड़ा हो जायेगा, क्योंकि आप शायद बहु-विज्ञापित और कीमती ब्रांड खरीदना ही पसंद करे । सौंदर्य प्रसाधनों की भीड़

तो चमत्कृत कर देने वाली है - हर माह उसमें नये-नये उत्पाद जुड़ते जाते हैं । साबुन ही देखिये । एक में हल्की खुशबू है, दूसरी में तेज़ । एक दिन भर आपके शरीर को ताज़ा रखती है, दूसरी पसीना रोकती है, तीसरी जरासीम से आपकी रक्षा करती है । यह लीजिए सिने स्टार्स के सौंदर्य का रहस्य, उनका मनपसंद साबुन आदि आदि ... कंप्यूटर काम के लिए तो खरीदे ही जाते हैं, महज दिखावे के लिए उन्हें खरीदनेवालों की संख्या भी कम नहीं है । खाने के लिए पांच सितारा होटल हैं । वहाँ तो अब विवाह भी होने लगे हैं । बीमार पड़ने पर पाँच सितारा अस्पतालों में जाइए । सुख-सुविधाओं और अच्छे इलाज के अतिरिक्त यह अनुभव काफी समय तक चर्चा का विषय भी रहेगा । पढ़ाई के लिए पाँच सितारा पब्लिक स्कूल हैं, शीघ्र ही शायद कालेज और युनिवर्सिटी भी बन जायें । भारत में तो यह स्थिति अभी नहीं आयी पर अमरीका और यूरोप के कुछ देशों में आप मरने के पहले ही अपने अंतिम संस्कार और अनंत विश्राम का प्रबंध भी कर सकते हैं - एक कीमत पर । आपकी कब्र के आसपास सदा हरी घास होगी, मनचाहे फूल होंगे । चाहे तो वहां फव्वारे होंगे और मंद ध्वनि में निरंतर संगीत भी । कल भारत में भी यह संभव हो सकता है । प्रतिष्ठा के अनेक रूप होते हैं । चाहे वे हास्यास्पद ही क्यों न हों । यह है एक छोटी सी झलक उपभोक्तावादी समाज की । यह विशिष्ट जन का समाज है पर सामान्य जन भी इसे ललचाई निगाहों से देखते हैं । उनकी दृष्टि में, एक विज्ञापन की भाषा में, यही है राइट च्वायस बेबी ।"[1] प्लास्टिक सैचेट और पाउच नया आकार ले रहे हैं और बाजार की जरूरतों में ढल रहे हैं । ब्रांड का चलन बढ़ रहा है । ब्रांड का चलन उपभोक्तावादी बाजार के बढ़ने का प्रमाण है । ब्रांड के बिना उपभोक्ता बाजार नहीं बनता और बिना प्लास्टिक क्रांति के "ब्रांड" नहीं होता । कुकिंग गैस, चाय, खाद्य तेल, कपड़े धोने के साबुन, टूथपेस्ट, चप्पलें

- -

1. समय और संस्कृति - पृ.सं. 172

प्लास्टिक जूते, वनस्पति, कॉफी, वाशिंग पाउडर, बालों का तेल, चमड़े के जूते, बल्ब, बिस्कुट, ब्रेड-मक्खन-जाम, घी, सिगरेट, मिक्सी, धुलाई मशीन, क्रीम, शैम्पू, पंखे, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टी.वी., वी.सी.आर., घड़ियाँ, साइकिल प्रेशर कुकर, इस्तरी, मोटर साइकिल, स्कूटर, रेफ्रिजेटर आदि के ब्रांड बड़े पैमाने पर चलन में आये हैं । पश्चिम के उपभोक्ता के मुकाबले यह उपभोक्ता अभी "रोज बरती जानेवाली" चीज़ों को ज्यादा खरीदता है । टिकाऊ और लंबे समय तक चलने वाले सामान को उच्च मध्यवर्ग ही खरीदता है । लेकिन निम्न मध्यवर्ग का सपना इसी उच्च मध्य वर्ग के मार्ग से होकर जाता है ।[1]

इस उपभोक्ता संस्कृति में साहित्य की हैसियत पर विचार करते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि आज से चालीस - पैंतालीस साल पहले भी सी.पी. स्नो ने विज्ञान और संस्कृति की इस समानांतर दुनिया की बात उठाई थी और दोनों के बीच बढ़ती दूरियों को लेकर चिंता व्यक्त की थी । जहाँ तक मुझे याद है कि उसने अपनी "टू कल्चर्स" की स्थापना में इन दोनों के अंतरावलंबन पर ही जोर दिया था । मगर बात सुलझी कहा ? दो संस्कृतियों की यह भयावह सचाई किसी न किसी रूप में आज हम सबकी चिंता का केन्द्र है कि इस उपयोगिता / उपभोक्तावादी संस्कृति में हम कहा और क्यों है ? रास्ते दो ही है : अपनी अकिंचनता के आतंक में हम सीधा सरल निष्कर्ष निकाल ले कि आज के समाज में चूंकि हमारी जरूरत नहीं है इसलिए हमे विलुप्त होती प्रजातियों वाली अपनी नियति को स्वीकार कर लेना चाहिए या फिर यह मान लेना चाहिए कि साहित्य का क्षेत्र भी सिर्फ धर्म और मनोरंजन का पलायन क्षेत्र हैं, न इससे अधिक न इससे कम । जीवन की असली लड़ाईयों से हारा-थका आदमी फुरसत के दो क्षणों में यहाँ आकर अपने को ताजा करता है ताकि फिर जाकर अपने

- -

1. विनाश को निमंत्रण - पृ.सं. 94

को ताजा करता है ताकि फिर जाकर अपने मोर्चों पर जुट सके .... तब क्या पुराने सामंतों से लेकर आज तक साहित्य की सिर्फ यही उपयोगिता है ? अपनी सारी महानताओं के बावजूद हम सिर्फ एंटरटेनर (मनोरंजनकर्ता) हैं ? हमारा सारा तामझाम या व्यापार सिर्फ दूसरों की जूठन या इधर-उधर से उड़ाये माल से ही चलता है ? यानी समय और समाज को ढालने वाले शास्त्र दूसरे हैं, साहित्य नहीं ।[1]

उपभोक्तावादी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है - जब हम उपभोक्तावादी संस्कृति की बात करते हैं तो उपभोग तथा उपभोक्तावाद में फर्क करते हैं उपभोग जीवन की बुनियादी जरूरत है । इसके बगैर न जीवन संभव है और न वह सब जिससे हम जीवन में आनंद का अनुभव करते हैं । इस तरह के उपभोग में हमारा भोजन शामिल है, जिसके बिना हम जी नहीं सकते या कपड़े शामिल हैं जो शरीर ढंकने के लिये और हमें गर्मी, सर्दी और बरसात आदि से बचाने के लिए जरूरी है । इसी तरह जीवन की रक्षा करने वाली या शरीर की तकलीफों को दूर करने वाली दवाएं, ऋतुओं के प्रकोप से बचाने के लिए घर, ये सब उपभोग की वस्तुएँ हैं । औरतों और मर्दों द्वारा एक दूसरे को आकर्षित करने के श्रृंगार के कुछ साधन भी उपभोग की वस्तुओं में आते हैं । यह बिल्कुल प्राकृतिक और स्वाभाविक जरूरत है । मनुष्य में ही नहीं पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में भी नर और मादा के बीच आकर्षण पैदा करने के लिए सुन्दर रंगीन बाल, रोंये और पंख, भड़कीले रूप, मीठे संगीतमय स्वर तथा तरह-तरह की गंध प्रकृति की देन है । इन सब गुणों की उपयोगिता जीवों में विभिन्न मात्रा में रूप, रंग, गंध, स्वर आदि के प्रति स्वभाव से प्राप्त आकर्षण से आती है । यही स्वाभाविक आकर्षण एक ऊँचाई पर मनुष्यों में सौंदर्यबोध

---

1. हंस - संपादकीय - दिसंबर, 1947 - पृ.सं. 5

को जन्म देता है । इसी बोध से मनुष्य विभिन्न कलाओं एवं विज्ञान को जन्म देता है । अपने परिवेश को नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि से सजाना या साहित्य और विज्ञान के जरिये अपने वातावरण का प्रतीकात्मक अनुभव करना, मनुष्य को सबसे ऊँचे दर्जे का आनंद देता है । इस प्रक्रिया में निर्मित कलावस्तु पुस्तक आदि सब मनुष्य के स्वाभाविक उपभोग के क्षेत्र में आते हैं । इसके विपरीत ऐसी वस्तुएँ, जो वास्तव में मनुष्य की किसी मूल जरूरत या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसके लिये जरूरी बना दी गयी है, उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं । उपभोक्तावादी संस्कृति ऐसी वस्तुओं को शुद्ध व्यावसायिकता के कारण योजनाबद्ध रूप से लोगों पर आरोपित करती हैं और मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजों का इसके लिये प्रयोग करती हैं कि इन वस्तुओं की माया लोगों पर इस हद तक छा जाये कि वे इनके लिए पागल बने रहे ।[1]

वस्तुत: अनावश्यक वस्तुओं की सूची काफी लम्बी है । जिसे उपभोक्तावादी संस्कृति ने प्रतिष्ठा के बरक्स आवश्यक बना दिया है । प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए लोग अनावश्यक वस्तुएँ खरीदते हैं ।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने सौंदर्य की परिभाषा भी बदल दी हैं । सौंदर्य रंगों की विविधता और उनके उपयुक्त संयोजन से आता है । इसी कारण राजस्थान की सरल ग्रामीण महिलाएँ अपने सस्ते लिबास में भी रंगों के उचित संयोजन से जहाँ इकट्ठी होती हैं, फूलों की क्यारियों सी सज जाती हैं । लेकिन मैचिंग का पागलपन सवार हो जाने से जहाँ हैन्डबैग, एक जोड़ा जूता या चप्पल तथा एक रंग की लिपिस्टिक से काम चल सकता था वहाँ अब हर कपड़े के रंग के

- -

1. संवेद - 4, जुलाई, 94 - पृ.सं. 23

साथ सब कुछ उसी रंग का होना चाहिए । इस तरह अब एकही जगह आधे दर्जन सामान खरीदने की जरूरत हो जाती है । पर सबसे हास्यास्पद तो यह होता है कि काले या नीले कपड़ों से मैच करने के लिये लाल होंठों वाली सुंदरियां अपने होंठ काले या नीले रंग से रंगने लगती हैं ।

उपभोग और संतोष किसी "सपने" को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि एक ऐसी वस्तुगत अवस्था है जो उसी पूंजीवाद से नियंत्रित, अनुशासित है जो उपभोग के केन्द्र में है, यह कोई क्रांतिकारी स्थिति नहीं है, बल्कि वही शोषण-मूलक पूंजीवाद है । बस थोड़ा रूप अलग है । संपन्नता और उपभोग के दैनिक अनेकार्थों में हमेशा नए मिथ बनते रहते हैं । आनंद का मिथ बना रहता है । इतिहास और नैतिकता से बाहर आनंद का मिथ बना रहता है । जरूरतों को किस तरह उत्पादक शक्तियों में ढाला जाता है, यह देखना हो तो विज्ञापन देखें । दूरदर्शन कहता है कि वह अड़तालीस करोड़ लोगों द्वारा देखा जाता है । रेडियो कहता है कि वह सत्तर फीसदी लोगों द्वारा सुना जाता है । यदि आप यहाँ विज्ञापन दें तो इतने करोड़ लोगों तक आपका संदेश पहुँचेगा । ये उपभोक्ता हैं । जिनके पास आपका संदेश पहुँचेगा वे इस तरह जरूरतों को पूरा करेंगे । यह इच्छा ऐसा उपभोक्तावादी वातावरण बनाती है जिसका असर उत्पादक शक्तियों की बढ़त में देखा जा सकता है । गालब्रैथ ने "द न्यू इंडस्ट्रियल स्टेट" में ठीक ही लिखा है - नए औद्योगिक तंत्र में व्यक्ति "बचत" की सप्लाई करके "सेवा" नहीं करता बल्कि उसके उत्पादों का उपभोग करके सेवा करता है । नैतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक किसी भी क्षेत्र में वह इतना अधिक अनुशासित नहीं होता जितना उपभोग के क्षेत्र में होता है । पूंजीवाद की जरूरत होती है : मनुष्य उसे श्रमिक रूप में मिले तथा वह अर्थ पैदा करने वाला हो । लेकिन नई व्यवस्था उसे उपभोक्ता के रूप में चाहती है, श्रम-निर्भर उत्पादकता धीरे-धीरे तकनीक तथा प्रबंध निर्भर उत्पादकता बन गई है तथा पूंजी

निवेशन अब निगम स्तर पर हो रहा है । एक उपभोक्ता के रूप में अब मनुष्य अनिवार्य हो उठा है, कोई दूसरा उसकी जगह नहीं ले सकता । इस प्रकार उपभोग सामाजिक नियंत्रण का ताकतवार औजार है जो उपभोक्ता को अकेला करके अनुशासित नियंत्रित करता है लेकिन साथ ही उपभोग का नौकरशाहाना नियंत्रण भी पैदा करता है जिसे प्राय: "उपभोक्ता की स्वतंत्रता" के रूप में रखा जाता है । यही इसका बुनियादी अंतर्विरोध है । एक ओर उपभोग का नियंत्रण, दूसरी ओर उपभोक्ता की आजादी । आजादी के बिना उपभोक्ता संभव नहीं, और नियंत्रण के बिना उपभोक्तावाद संभव नहीं । उपभोग का यह अंतर्विरोध बुनियादी है । किसी उपभोक्ता को एक साथ न तो यह समझाया जा सकता है कि उपभोग का इतना स्तर सामाजिक स्तर का पर्याय है, और न यह कि उस व्यक्ति की सामाजिक जिम्मेदारियाँ फिर इस प्रकार की होंगी । व्यक्ति स्वतंत्र उपभोक्ता भी रहे और जिम्मेदार भी रहे, यह एक साथ नहीं किया जा सकता क्योंकि उपभोग की प्रक्रिया में ही उसकी "सामाजिक जिम्मेदारी" निहित रहती है । यानी उपभोग में ही जिम्मेदारी शामिल है । अलग से उसे नहीं दिया जा सकता । उपभोग एक "सामाजिक श्रम" भी है । उपभोक्ता को उसी स्तर पर गतिशील किया जाता है, उपभोक्ता का "तुष्ट" अहंकार यहीं बनाया जाता है जो उसे हमेशा असंतुष्ट रखता है । "तोष" और "असंतोष" उपभोग के भीतरी अंतर्विरोध हैं । एक ओर संतोष की चाह, दूसरी ओर हमेशा असंतोष । एकही साथ "असंतोष", एक ही साथ "अहंकार" और "प्रतिरोध" ऐसे अंतर्विरोध हैं जो उपभोग के भीतर समाधान नहीं पाते । उपभोग इन्हें और भी मजबूत करता है । इस अर्थ में उपभोग एक विराट, नया राजनीतिक क्षेत्र है जिसका विखंडन अभी होना है । पूंजीवादी पक्ष का समूचा विमर्श जो उपभोग को लेकर चलता है, उपभोक्ता को एक "सार्वभौमिक मनुष्य" बनाने का इरादा रखता है । यही इसका आदर्श, आम और अंतिम मनुष्य है । यह विमर्श

उपभोग को ही "मुक्ति" मानता है । जो सामाजिक क्रांति के बिना भी {अब} मिल सकता है । लेकिन सच्चाई यह है कि उपभोक्ता एक राजनीतिक सामाजिक- आर्थिक सच्चाई है, वह एक उत्पादक शक्ति है । इसीलिए वह "उपभोग" के आनंदकानन को समस्याग्रस्त बनाता है । वह सवाल उठाता है कि उपभोग के साधनों का स्वामित्व किसका है ? सिर्फ उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की बात नहीं, उपभोग के साधनों की बात भी अब उठती है । यहीं से उपभोग का "संकट" शुरू होता है । नए अंतर्विरोध यहीं से पैदा होते हैं । ये अंतर्विरोध विकसित पूंजीवादी समाजों में प्रकट होते देखे जा सकते हैं, अमरीका के उपभोक्ताओं द्वारा अचानक किसी "पण्य" को नष्ट करने के "एक्शन होते हैं । उदाहरण के लिए 1968 में "नो ब्रा डे" मनाया गया था । ..... जाहिर है कि उपभोग के अंतर्विरोध में सबसे सक्रिय तत्व व्यक्तिवाद ही है जो कभी-कभी एकसूत्रता भी पैदा करता है । उपभोग में वस्तुओं का भोग व्यक्ति को व्यक्तिवादी बनाता है लेकिन यही चीज़ व्यक्तिवादिता व्यक्ति-उपभोक्ता को विश्व के उपभोक्ता से जोड़ती भी है । यही अंतर्विरोध नए "प्रतिरोध" को अभी सीमित करते हैं । इसका कारण है कि उपभोग को यह व्यवस्था एक विमर्श बनाकर चलती है । निजी जीवन का प्रतिरोध यहाँ बचता नहीं क्योंकि उपभोग की इच्छा उसे पहले ही कमजोर कर चुकी होती है । फिर उपभोग की चीज़ें लोगों में स्तर भेद भी पैदा करती हैं, उन्हें नई संहिता में बाँधती हैं । इसीलिए कोई सामूहिक प्रतिरोध बहुत आसानी और जल्दी से जन्म लेता नहीं दिखता ।[1]

कहना न होगा कि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में कम्युनिस्ट शासन के पतन के पीछे उपभोक्तावाद की बड़ी भूमिका थी और आज चीन में जो

---

1. ब्रेक के बाद - पृ.सं. 134

भी आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं उनमें उसका प्रभाव स्पष्ट है । उपभोक्तावाद इतना शक्तिशाली है कि वह उदात्त आदर्शों और मूल्यों के बारे में सभी घोषणाओं को निरर्थक बना देता है ।

पूंजीवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि उपभोक्तावादी संस्कृति ने पूरे विश्व को प्रभावित किया है, भारत में भी यह संस्कृति शक्तिशाली सिद्ध हुई है । इसने भारत की सभ्यता और संस्कृति को पूरी तरह से प्रभावित किया है । हम सांस्कृतिक अस्मिता की बात कितनी ही करें, परंपराओं का अवमूल्यन हुआ है, आस्थाओं का क्षरण हुआ है । कड़वा सच तो यह है हम बौद्धिक दासता स्वीकार कर रहे हैं, पश्चिम के सांस्कृतिक उपनिवेश बन रहे हैं । हमारी नयी संस्कृति अनुकरण की संस्कृति है । हम आधुनिकता के झूठे प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं, प्रतिष्ठा की अंधी प्रतिस्पर्धा में जो अपना है उसे खोकर छद्म आधुनिकता की गिरफ्त में आते जा रहे हैं । संस्कृति की नियंत्रण शक्तियों के क्षीण हो जाने के कारण हम दिग्भ्रमित हो रहे हैं । हमारा समाज ही अन्य निर्देशित होता जा रहा है । विज्ञापन और प्रसार के सूक्ष्म तंत्र हमारी मानसिकता बदल रहे हैं । उनमें सम्मोहन की शक्ति है, वशीकरण की भी ।

जाहिर है कि उपभोक्ता संस्कृति का मुख्य एजेंडा व्यावसायिकता है, जो तमाम दूसरी-चीज़ों की तरह साहित्यिक रचनाशीलता को भी अनुकूलित करती है । इस संदर्भ में कहानी और कविता के क्षेत्र में व्यावसायिकता के अनुपात को लेकर सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक प्रो.मैनेजर पाण्डेय एवं राजेन्द्र यादव के बीच गहरा मतभेद हैं । कविता को आज भी केन्द्रीय विधा एवं कहानी को सबसे लोकप्रिय विधा बताते हुए मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि कहानी और कविता में फर्क तो है ही कि कहानी आज के जमाने में, इस जमाने को व्यक्त तो करती

है पर साथ ही आज के जमाने की विकृतियों का शिकार होने की जितनी संभावना कहानी में है, उतनी कविता में नहीं है। एक खास सीमा के बाद आप कविता को बिगाड़ नहीं सकते पर कहानी को व्यावसायिक बनाने की संभावनाएँ बहुत है - इसलिए कहानी लोकप्रिय विधा है ..... व्यावसायिक होने की संभावना और व्यावसायिकता के खतरे सबसे अधिक कहानी के साथ जुड़े हुए हैं।"[1]

उपर्युक्त स्थापना का प्रतिवाद करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि - "जहाँ तक व्यावसायिकता का सवाल है .... व्यावसायिकता तो जितनी कविता में ज्यादा संभावित है .... वो मंच पर केन्द्रित होकर जो चित्र बनाती है ...... वह कहानी में इतनी ज्यादा नहीं है। कहानी की व्यावसायिकता तो फिल्म वगैरा में जाकर वलगलाईज होती है। कविता तो कविता के क्षेत्र में ही वलगलाईज हो जाती है और उस समय अपना बचाव एक एलिट किस्म की कविता से करने की कोशिश होती है और स्पष्ट ही ऐसी कविताएँ सीमित वर्ग की आपसी चीज़ बनकर रह जाती है।"[2]

कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता संस्कृति की जननी व्यावसायिकता से कविता और कहानी ही नहीं बल्कि संपूर्ण साहित्य, कला एवं संस्कृति को व्यावसायिक खतरा हैं। "साहित्य की पारिस्थिकी" पर विचार करते हुए हिन्दी के जाने-माने कवि एवं चिंतक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने सही लिखा है कि "व्यावसायिकता नीयत होती है - बिकाऊपन की खोज : इसलिए अनबिकाऊ या देर से बिकाऊ या कम मुनाफे या घाटे की शर्त पर बिकाऊ

- -

1. वसुधा - अंक 33-34, मार्च, 1996 - पृ.सं. 27
2. - वही - पृ.सं. 28

या कम-से-कम लागत पर और कम-से-कम समय में ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा देने वाले बिकाऊ माल की जाँच, तमीज़ और छँटनी शुरू हो जाती है ।"[1]

अंततः इस उपभोक्ता और व्यावसायिकता संस्कृति के फैलाव का परिणाम क्या होगा ? यह एक गंभीर चिंता का विषय है । हमारे सीमित संसाधनों का घोर अपव्यय हो रहा है । जीवन की गुणवत्ता आलू के चिप्स से नहीं सुधरती । न बहुविज्ञापित शीतल पेयों से । भले ही वे अंतर्राष्ट्रीय हों। पीन्सा और बर्गर कितने ही आधुनिक हों, हैं वे कूड़ा खाद्य । समाज में वर्गों की दूरी बढ़ रही है, सामाजिक सरोकारों में कमी आ रही है । जीवन-स्तर का यह बढ़ता अंतर आक्रोश और अशान्ति को जन्म दे रहा है । जैसे - जैसे दिखावे की यह संस्कृति फैलेगी, सामाजिक अशांति भी बढ़ेगी । हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास तो हो ही रहा है, हम लक्ष्य-भ्रम से भी पीड़ित हैं । विकास के विराट् उद्देश्य पीछे हट रहे हैं, हम झूठी तुष्टि के तात्कालिक लक्ष्यों का पीछा कर रहे हैं । मर्यादाएँ टूट रही हैं, नैतिक मानदंड ढीले पड़ रहे हैं । व्यक्ति केन्द्रिकता बढ़ रही है, स्वार्थ परमार्थ पर हावी हो रहा है। भोग की आकांक्षाएँ आसमान को छू रही हैं । कोई नहीं जानता किस बिन्दु पर रुकेगी यह दौड़ ?

इस भयावह संकट के दौर में राजेन्द्र यादव न लिखने के कारणों पर विचार करते हुए कदाचित कविता-कहानी- उपन्यास आदि की जगह उस गहन वैचारिक लेखन को ज्यादा जरूरी मानते हैं जो केवल साहित्य रचना तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण रचनात्मकता तथा उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक संदर्भों की पड़ताल के लिए साथी लेखकों को आन्दोलित करें । उन्होंने शिद्दत के साथ महसूस किया है कि - "हम कहीं गहरे अवरोध के शिकार हो गये हैं, देश में छाये रचना

- -

1. साहित्य की पारिस्थिकी - पृ.सं. 34

विरोधी माहौल का जहर हमारी शिराओं में घुल गया है । सवाल व्यक्तिगत नहीं पूरे पर्यावरण का है । [हालाँकि यह बात भी मैंने लेखों, वक्तव्यों और संपादकीय टिप्पणियों में ही कही है, यानी लिखकर] मैं सचमुच शिद्दत से महसूस करता हूँ कि क्या कोई भी इस यातना को अपने स्तर पर नहीं देख पाता है कि आज न लिखने या रोज हजार शब्दों को व्याकरण सम्मत भाषा में कागज पर उतारते चले जाने में कोई फर्क है ? "गहरा सार्थक मौन ..... मृषा से ..... " की आत्मस्वीकृति कहाँ से आती है ? क्या हममें से अधिकांश अपनी सर्वश्रेष्ठ, पहली-दूसरी रचनाओं में ही नहीं दे चुके और अब सिर्फ "लिखते चले जाने कि नियति से पीड़ित" या अभिशप्त हैं ? अपने को छापे में देखने और चार मित्रों की वाहवाही से ही रचना महान हो जाती है ? वह कौन सी अंतर्दृष्टि है जो न हमें अंतर्साक्षात्कार की अनुमति देती है न आत्मविश्लेषण की ...? सैकड़ों कालजयी रचनाएँ सालजयी तक नहीं हो पातीं । माना कि मेरा सड़क ऐक्सीडेंट में मर जाना मेरी ही मूर्खता और असावधानी है, मगर दिल्ली में अगर दो-तीन हजार मौतें सालभर में होती हैं तो वह शहर या व्यवस्था की कोई समस्या नहीं है ? गोष्ठियों पत्रिकाओं में घोषित हर रोज महान और महत्वपूर्ण रचनाओं का मरते चले जाना किसी के मन में कोई प्रश्न नहीं उठाता ?"[1]

प्रसंगवश हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री कात्यायनी की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जो प्रकारांतर से साहित्य की तमाम विधाओं के मद्देनजर विचारणीय हैं -

"कविताएँ बहुत नहीं लिखनी चाहिए
और लगातार नहीं लिखनी चाहिए ।
× × × ×

---

1. न लिखने का कारण - पृ.सं. 47

हमेशा कविताएँ लिखते रहने वालों के लिए
चीज़ों से हमेशा के लिए दूर हो जाने का
ख़तरा बना रहता है ।

इस हद तक नहीं लिखी जानी चाहिए कविताएँ
कि चीज़ों को सीधे-सादे ढंग से
बयान करने की आदत ही छूट जाए

× × × ×

हर मार्मिक घटना पर कविता लिखने वाला कवि
दुनिया का सबसे हृदयहीन व्यक्ति होता है ।

कविताएँ न लिखने का निर्णय
कभी कभी ....

× × × ×

एक बेहद काव्यात्मक न्यायपूर्ण निर्णय होता है ।
जैसे कि अभी मैं सोच रही हूँ
कि आने वाले कुछ वर्षों तक
बंद कर दिया जाय कविताएँ लिखना,
लोगों की उम्मीदों, भविष्य और लड़ने की
जरूरत के बारे में सीधे-सीधे
कुछ बताया जाय
कुछ राजनैतिक अध्ययन मण्डल और
कुछ सांस्कृतिक अभियान चलाए जाएं,

× × × ×

कुछ अर्थशास्त्र, कुछ दर्शन और कुछ अपने समय का
अध्ययन किया जाएं,
कुछ यात्राएं की जाएं
और कुछ जोखिम उठाई जाएं
इस तरह कविता के भविष्य के प्रति
और अधिक आश्वस्त हुआ जाएं,
उसे और अधिक उन्नत बनाया जाएं"।

स्पष्ट ही राजेन्द्र यादव के सम्पूर्ण आलोचना - साहित्य एवं सामाजिक - सांस्कृतिक -राजनीतिक चिन्तन परक विमर्श में निहित बेचैनी का कात्यायनी की उपर्युक्त काव्यात्मक संवेदना के मद्देनजर ही समझा जा सकता है ।

उ प सं हा र

आज आलोचना को साहित्य की एक सशक्त विधा माना जाता है । यह आलोचना का दायित्व है कि समाज को साहित्य की सही परख कराये औरससाहित्य को समाज से परे कल्पनाओं में विचरने न दे । यह सच है कि आम पाठक में साहित्य की समझ उत्पन्न करने में आलोचक अपने आलोचन कर्म द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने ठीक ही साहित्य को जीवन की आलोचना माना है" समीक्षक के रूप में उसने स्वीकार किया है कि साहित्य को जीवन के आंगन में ला खड़ा करना समीक्षक का पहला दायित्व है । उत्तमोत्तम रचनाओं के चयन और सामाजिक जीवन में उनको प्रतिष्ठित करना आलोचक का धर्म है । समाज की उर्वर भूमि में पुष्ट बीजों का वपन कर वह अपनी सर्जनात्मक शक्ति का परिचय देता है । वह एक विशेष दूरी से

साहित्य को समाज के हित में परखकर अपने विचार प्रस्तुत करता है । अर्नाल्ड मानते हैं कि नैतिक चेतना मानव-जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । कोई व्यक्ति या समाज इसकी उपेक्षा कर वस्तुतः जीवन की ही उपेक्षा करता है ।

जाहिर है कि राजेन्द्र यादव मुख्यतः उपन्यासकार एवं कहानीकार हैं । परन्तु उन्होंने आलोचना कर्म को भी ईमानदारी के साथ निभाया है उन्होंने सामाजिक जीवन में मूल्यों के लोप को शिद्दत से महसूस किया है । वे रचनाकार एवं समीक्षक के रूप में सीधे-सीधे समाज से मुखातिब है । उनकी समीक्षा अपनी प्रकृति और प्रक्रिया में सामाजिक सुधारवादी और मानवमूल्यों की समर्थिका जान पड़ती है। उन्होंने शास्त्रीय आलोचना का खंडन करते हुए व्यावहारिक आलोचना पर जोर दिया है । वे विषय की गहनता और व्यापकता में तारतम्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म दृष्टि से उपन्यास, कहानी, आलोचना एवं अन्य सामाजिक मुद्दों का विवेचन विश्लेषण करते हैं । समाज में "नारी" और "दलित" वर्ग की दयनीय दशा को उन्होंने अपने आलोचना-कर्म में स्थान दिया है और उनकी दयनीयता को दूर करने के लिए संघर्ष किया है । उनके लेखन में एक विशेष प्रकार की स्पष्टता, खुलाव और अनुशासन है । यही विशेषता उन्हें औरों से अलग करती है । उन्होंने समकालीन ज्वलंत सामाजिक समस्याओं को भी शिद्दत से महसूस किया है और गहराई मे जाकर उन पर विचारा है । उनकी आलोचना समाज के आम आदमी से जुड़ी है । सामाजिक पक्षधरता के ही परिप्रेक्ष्य में यह भली-भांति समझा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव का सामाजिक चिन्तन किस हद तक प्रगतिशील है । उन्होंने अन्य विधाओं की तरह आलोचना में भी प्रयोगधर्मिता को अपनाया है । आलोचना में आये ठहराव और बासीपन का उन्होंने अपनी प्रयोग धर्मिता से दूर करने का साहसिक प्रयास किया है ।

राजेन्द्र यादव रचनाकार-आलोचक हैं । उनके आलोचना-संसार से गुजरते हुए ऐसाप्रतीत होता है कि पाश्चात्य साहित्य के गहन अध्ययन से उनका

लेखन समृद्ध हुआ है । परन्तु उन्होंने जिन मुद्दों को उठाया है वे सीधे-सीधे भारतीय जीवन से जुड़े हुए हैं । अपनी औपन्यासिक कृति "उखड़े हुए लोग" में उन्होंने विदेशी विचारधारा के अंधानुकरण पर करारा व्यंग्य करते हुए एक पात्र द्वारा कहलवाया है कि - "मेरी समझ में नहीं आता कैसे लोग अपने दिमागों को ताक पर रखकर इतने जड हो जाते हैं कि वहां की हर उल्टी - सीधी बात का समर्थन करने लगते हैं ।" इसी संदर्भ में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि "अगर रूस में पानी बरसने लगे तो यह लोग यहां छाता लगायें ।"

राजेन्द्र यादव ने अपना समग्र लेखन, लेखकीय स्वाभिमान की शर्तों पर किया है । उन्होंने सत्ता के साथ कभी समझौता नहीं किया । आरंभ से ही उन्होंने पुरस्कारों की जोड़-तोड की परंपरा का विरोध किया है । उनका मानना है कि सामान्यतः पुरस्कार चुप रहने के लिए दिये जाने वाली रिश्वत है । इस दिशा में उन्होंने सवाल किया है कि पुरस्कार सरकारी वफादारी या सरकार की आलोचना न करने के लिए दी जाने वाली घूस है या रचना का सम्मान ? पुरस्कार की राजनीति के विरोध में उन्होंने विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं । परन्तु आज हालत यह है कि ज्यादातर लेखक लेखकीय निष्ठा, पवित्रता एवं निष्पक्षता को त्यागकर पुरस्कार प्राप्ती के लिए दौड़ में शामिल हो जाते हैं ।

हिन्दी कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना एवं अन्य विधाओं को जानने और समझने का राजेन्द्र यादव ने सफल प्रयास किया है । उन्होंने उपर्युक्त विधाओं को नये नजरिये से देखा-परखा और इस संदर्भ में नवीन स्थापनायें दी है । इस कृम में उन्होंने कई बुनियादी सवाल उठायें है और वाद-विवाद-संवाद के लिए विद्वानों के सामने ज्वलंत मुद्दे रखे हैं ।

वस्तुत: कथा-साहित्य की मूल-भूत रूपरेखा और प्रवृत्तियों की खोज ही उनका लक्ष्य है। जिसके लिए उन्होंने विधा के शास्त्रीय पक्ष की अपेक्षा जीवन तथा साहित्य -प्रभावों और परिस्थितियों वाले पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "साहित्य विवेक मूलत: जीवन विवेक है।" स्पष्ट ही राजेन्द्र यादव के लेखन का केन्द्रीय बिन्दु भी जीवन मूल्य रहा है ।

साहित्य के समाजशास्त्र के तमाम अध्येता इस तथ्य से भली-भांति परिचित हैं कि एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में साहित्य के समाजशास्त्र का उद्भव और विकास वस्तुत: उपन्यास के समाजशास्त्र को लेकर हुए विचार-विमर्श से किसी न किसी रूप में संबंध रहा है । यह ठीक है कि आज साहित्य की दूसरी विधाओं जैसे कहानी, कविता, आत्मकथा, आलोचना आदि का भी समाजशास्त्रीय अध्ययन हो रहा है लेकिन अपने आरम्भिक रूप में इसका बीज उपन्यास को लेकर किये गये विवेचन-विश्लेषण में किसी न किसी रूप में निहित रहा है । राजेन्द्र यादव की आलोचनात्मक, कृतियों से गुजरते हुए वहाँ हमें साहित्य की विभिन्न विधाओं विशेषकर उपन्यास, कहानी, आलोचना एवं कविता और आत्मकथा आदि के बारे में चिन्तन प्राप्त होता है । उनमें विलक्षण समाजशास्त्रीय सूत्र विद्यमान है । अपनी पुस्तक "प्रेमचंद की विरासत" में वे लिखते हैं कि एक तीसरी श्रेणी का उपन्यास है " द मैन" लेखक इरविंग वैलेस, हालाँकि यह तीसरी श्रेणी का उपन्यास भगवतीचरण वर्मा, शंकर या विमल मित्र जैसे किसी भी श्रेष्ठ भारतीय उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी की रचना से अधिक सशक्त, कथ्य में नया, सुगठित एवं रोचक है । इसमें कल्पना की गई है कि अमरीका का राष्ट्रपति एक नीग्रो हो गया है लेकिन भारत का तीसरी श्रेणी का कथाकार भी इस बात से कहीं कोई प्रेरणा नहीं ले पाता कि देश की प्रधानमंत्री एक "विधवा" नारी है, राष्ट्रपति "विधर्मी" है, कांग्रेस

जैसी विशाल संस्था का अध्यक्ष एक हरिजन रहा है और पहली बार नये व्यक्तिगत या सामाजिक कानून बनाकर अम्बेदकर ने मनु-याज्ञवल्क्य को एक तरफ फेंक दिया है ।

हिन्दी में कथा-समीक्षा, विशेषत: उपन्यास समीक्षा को लेकर एक अरसे से चिन्ता व्यक्त की जा रही है और जैसा कि राजेन्द्र यादव ने कहा भी है कि "अभी तक हिन्दी में न तो उपन्यास-समीक्षा का सही मुहावरा उभर पाया है और न पद्धति का मानवीकरण ही हो सका है -विश्लेषण के औजार तो शायद हैं ही नहीं ।" निस्संदेह पहली आवश्यकता विश्लेषण की सही पकड़ की है । उनका ख्याल है कि कथासमीक्षा ने आज अपने को सिर्फ तात्कालिक फौरी सरोकारों और सीमाओं में ही बांध लिया है । हम सिर्फ चौखटाबद्ध प्रवृत्तियों और सद्य: प्रकाशित कृतियों तक ही सिमटकर रह गये हैं उनके विचार से काव्य-समीक्षा की स्थिति कुछ बेहतर है तो इसलिए की वहाँ अब भी यदा-कदा पूर्ववर्ती कवियों और काव्यकृतियों पर चर्चा होती रहती है । उनके शब्दों में "मेरा विश्वास है कि काव्य-समीक्षा के समृद्ध होने का कारण यह है कि वहाँ पुरानी कृतियों का बार-बार नए दृष्टिकोण से विश्लेषण विवेचन हुआ है, व्याख्याऐं और पुनर्व्यवस्थाऐं हुई हैं, "जुही की कली" "राम की शक्ति पूजा से लेकर असाध्य-वीणा" और "अन्धेरे में" या "ब्रह्म राक्षस" तक। कथा-समीक्षा में प्राय: ऐसा कम हुआ है । वहाँ उपन्यासों के अन्दर और बाहर की दुनियाओं की समीक्षाऐं तो बहुत है, मगर स्वयं उपन्यास की कला और बाहरी भीतरी यथार्थ के सम्बन्धों अन्त:क्रियाओं की पड़ताल या स्वरूप की पहचान कम है । "इसी कमी और ठहराव को दूर करने के लिए राजेन्द्र यादव ने चौखटाबद्ध आलोचना का अतिक्रमण करते हुए उसे एक नया स्वरूप प्रदान किया है । उन्होंने उपन्यासों और कहानी को समझने की सोच और "पैटर्न" को बदलने का प्रयास किया है । युग के साथ-साथ साहित्यिक विधाओं में

बदलाव आने पर स्पष्ट है कि उन विधाओं का मूल्यांकन पुराने औजारों से नहीं किया जा सकता । इसीलिए राजेन्द्र यादव ने इस क्षेत्र में भी प्रयोग - धर्मिता को अपनाते हुए कथा-समीक्षा को नया स्वरूप प्रदान किया है । प्राय: देखा जाता है कि कथा-समीक्षक उपन्यास एवं कहानी को गहराई से जाने बिना ही बने-बनाये पैटर्न के आधार पर आलोचना कर देते हैं । निश्चित रूप से यह साहित्यिक विधाओं के हक में नहीं है । राजेन्द्र यादव ने उपन्यास और कहानियों की पुनर्व्याख्या की है ।

राजेन्द्र यादव अपनी पुस्तक "कहानी : स्वरूप और संवेदना" में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि कथा-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं से उतना नहीं होता, जितना उनमें उलझे नैतिक मूल्य और सांस्कृतिक संकट से होता है, यही हमारे आपसी सम्बन्धों और व्यवहार को निर्धारित करते हैं । इसलिए चीज़ों और सम्बन्धों के प्रति हमारा रवैया ही कहानी में आ सकता है, आना चाहिए । उन्हें अफसोस है कि भारतीय कथा-साहित्य ने मूल्यों और सम्बन्धों के आधारभूत संकट को वास्तविक निगाहों से बिल्कुल नहीं देखा है, नयी स्थितियों के सामने हारते हुए पुराने को ही कथा-साहित्य ने अपना केन्द्र बनाया है । उनके अनुसार भारतीय कथाकार को बदलते हुए समाज में सबसे पहले अपनी स्थिति को स्वीकार कर लेना चाहिए ।

राजेन्द्र यादव ने आलोचना क्रम में "आत्मकथा" या जीवनियां न लिखे जाने की भी जाँच-पड़ताल की है । इन विधाओं पर न लिखे जाने का कारण तलाशते हुए उन्होंने लिखा है कि सामंती समाज में "राजा ही इतना महत्वपूर्ण होता था कि दरबारी रचनाकारों का सारा श्रेय या तो खुद ले लेता था या जो दरबारी नहीं थे उन्हें गुमनामियत चुन लेने को मजबूर होना पड़ता था । वे राजा की बजाय उसे भगवान के नाम समर्पित कर देना बेहतर समझते

थे । इसलिए जीवन वृत्त और साक्ष्य राजाओं - सम्राटों के तो मिलते हैं, रचनाकारों के नहीं । या जो हैं भी वे इतने आधे-अधूरे, अप्रमाणिक और किवदंतियों से भरे हैं कि वास्तविकता का पता ही नहीं चलता, जैसे -बावन वैष्णव की वार्ता" । अर्धकथानक "एक मात्र आत्मकथा है जो सत्ता से अलग चार सौ साल पहले लिखी गई थी-हिन्दू नहीं, जैन परंपरा में ।

कुछ अपवादों को छोड़कर आधुनिक युग में भी इस क्षेत्र में जो अभाव है उसका कारण बताते हुए यादव जी लिखते हैं कि - "समकालीन लोग भारतीय हिपोक्रेसी {ढोंग} के शिकार है ... किसी के जीवित रहते हम उसके जीवन की सच्चाईयाँ इसलिए नहीं लिखते कि पता नहीं, अगले को क्या बुरा या गलत लग जाय और मरने पर इसलिए चुप रहते हैं कि "मरना ही महान होता है" या "काल सबसे बड़ा क्षमाकर्ता है" की कुंठा से मुक्त नहीं हो पाते ।

राजेन्द्र यादव की धारणा है कि वर्चस्व की संस्कृति के सबसे अधिक शिकार रहे है - दलित और स्त्री । दलित अपने वर्ण से और नारी अपने देह से मुक्त नहीं हो सकती । दोनों को वर्चस्व की संस्कृति ने अपने हथियारों के जोर पर पालतू बना रखा है । उनके अनुसार नारी और दलित उभार के मुद्दे लगभग समान हैं .... " देह, जाति और रंग के जन्म लेने की सज़ा भुगतने की नियति दोनों को एक करती है" अपने यहाँ भी सबसे गंदी गालियाँ "चमार" और "रंडी" के अर्थ देने वाली है ।" इसलिए यह मात्र संयोग नहीं है कि दलित और स्त्री केन्द्र साथ-साथ उभरे हैं । इनसे सम्बन्धित समस्याओं के मूल में सामंती एवं पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध निहित हैं । बकौल राजेन्द्र यादव उन्होंने सारे समाज को रूडियार्ड किपलिंग के "हम" और "वे" में बाँट दिया है जिसकी प्रसिद्ध कविता बताती है कि जितने भी सभ्य, सुसंस्कृत शिक्षित और कुलीन हैं वे सब "हम" हैं और जितने भी अशिक्षित, गंवार, नीचे और उजड्ड है वे सब "वे" हैं । नारी के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव हंस {औरत:उत्तर कथा} के संपादकीय में लिखते हैं कि - "वे पुरुष की मर्यादा है, यानी वर्चस्वी

व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का निर्वाह करने की जिम्मेदारी सिर्फ उसकी है । वर्ग और वर्ण कोई हो, सैक्स और शील की मर्यादाएँ तोड़ेंगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जायेगी । वस्तुत: सामन्ती व्यवस्था ने उसे ऐसे अचूक तरीकों से जकड़ा है कि वहाँ छोटे से छोटे और बड़े से बड़े घराने की औरत में कोई अन्तर नहीं है ।

राजेन्द्र यादव का कहना है कि महिला-लेखन को दोयम दर्जे का मानना साहित्यकारों की बड़ी भारी भूल है । वे नारी-लेखन के हिमायती रहें है । उन्होंने अपने उपन्यासों में भी नारी का मुक्त रूप चित्रित किया है । उनकी नारी पात्र आन्तरिक गुलामी से मुक्त हैं । उनकी लड़ाई, बाह्य गुलामी के विरुद्ध है । शिक्षित होने के कारण वे सजग और सक्रिय हैं, हाँ, रचनाकार की दृष्टि उन स्त्रियों तक नहीं गई है, जो आन्तरिक गुलामी की गिरफ्त में हैं और जीवित विरोधाभास हैं । बदले युग सन्दर्भों के कारण उनमें मुक्ति की आकांक्षा अंकुवाती है जरूर पर एक क्षण के बाद ही आभ्यन्तरीकृत पराधीन चेतना के कारण बिला जाती है या स्वयं के द्वारा ही कुचल दी जाती है । पीड़ादायक स्थिति यह की वह खुद का मूल्यांकन भी "वस्तु" रूप में करती है, क्योंकि पुरूषों के छल-छद्म ने उसे ऐसा सोचने को बाध्य किया है ।

नारी मुक्ति पर विचारते हुए राजेन्द्र यादव ने "स्त्रीवाद" की जो अवधारणा प्रस्तुत की है वह आधुनिकता से परिचालित है। इस क्रम में उनके विचारों में जो अंतर्विरोध हैं । वे उनके लेखन में स्पष्ट रूप से उजागर होते हैं ।

कहना न होगा कि पूंजीवाद ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है उसने भारतीय संस्कृति और सभ्यता को पूरी तरह से बदल कर रख दिया है । मानसिक और शारीरिक स्तर पर समाज इस संस्कृति का गुलाम हो गया है । इसी संस्कृति ने ऋण की प्रवृत्ति को जन्म दिया है और मनुष्य ऐसी वस्तु की खरीद के लिए ऋण लेता है जो अनावश्यक है । इसने दिखावे की

की संस्कृति को जन्म दिया है । आज साहित्य का मूल्यांकन भी कीमतों और पुरस्कार की राशि के आधार पर होने लगा है । लेखक मूल्य एवं मांग को ध्यान में रखकर जब लेखन किया जाता है तो वह समाज के लिए घातक होता है ।

डॉ. निर्मला जैन का मानना है कि उत्तर शती के हिन्दी आलोचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, रोमांटिसिज्म के विरुद्ध रचना और आलोचना की नई जमीन तैयार करने की कोशिश सच तो यह है कि उत्तरशती की आलोचना में छठे और सातवे दशक, शायद सबसे अधिक सक्रियता से भरे दशक थे । इसी दौर में कविता केन्द्रित आलोचना के साथ-साथ कथा-साहित्य की आलोचना को तत्वधर्मी पद्धति से मुक्त कर नये ढंग की शुरुआत करने के गंभीर प्रयत्न दिखाई पड़ते हैं । क्योंकि कालांतर में कथाकारों ने जो नई ज़मीन तैयार की थी । उसकी समीक्षा के लिए पुरानी परिपाटि की समीक्षा की अपर्याप्तता को गहराई से महसूस किया जा रहा था । कथा-समीक्षा की किसी रूढ़ बनी बनाई पद्धति के अभाव के कारण स्वयं कथाकारों ने इस बात की ज़रूरत महसूस की कि वे अपने वक्तव्यों के माध्यम से अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया का विवेचन विश्लेषण करते हुए कथा कृतियों की रचना से संबद्ध मूलभूत समस्याओं पर भी विचार करें । इस क्रम में नये कवियों की तरह नये कथाकारों ने भी कथा-समीक्षा की राह निकालने का प्रयास किया । लिखा तो बहुत गया, पर यह स्वीकार करना कठिन है कि इन प्रयासों से कथा-समीक्षा की कोई निश्चित सैद्धांतिकी या पद्धति निर्मित हो सकी। साफ़ शब्दों में कहे तो उस दौर में कथा लेखन के क्षेत्र में नये सृजनात्मक प्रयोगों ने नई समीक्षा पद्धति के विकास की आवश्यकता पैदा कर दी थी । स्पष्ट ही इन कृतियों से तब के पाठक सीधा संवाद कर सकते थे लेकिन आलोचना के पास जाना इसलिए जरूरी था कि वह पाठक को ऐसी दृष्टि देती है जिससे

कृति का अर्थ विस्तार होता है, नये अभिप्राय खुलते है, रचना के मर्म तक पहुँचा जा सकता है और कथाकार के रचना कौशल का वैशिष्ट्य भी उजागर होता है । उस समय इस दिशा में पहल करने वालों की आलोचनाओं में वे सूत्र आकार ग्रहण करते दिखाई पड़े जो लगभग एक पद्धति को प्रस्तावित करते थे ।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है राजेन्द्र यादव की आलोचना जिसमें प्रत्येक विवेच्य कथाकृति के किसी केन्द्रीय बिन्दु की तलाश कर उसके चारों ओर एक अलग ढाँचा तैयार किया गया है । "कहानी : स्वरूप और संवेदना" और "एक दुनिया समानान्तर" की भूमिका में राजेन्द्र यादव ने यदि एक ओर संजीदगी से नई कहानी के बारे में अपनी समझ को व्यक्त किया है तो दूसरी ओर कुछ रचनाओं के मद्देनजर उनके रचनात्मक केन्द्रीय बिन्दु को खोजने का भी काम किया है । इसी प्रकार "अठारह उपन्यास" में इस दौर में लिखे गये महत्वपूर्ण उपन्यासों की समीक्षाओं के संकलन के साथ देवकीनंदन खत्री रचित "चन्द्रकान्ता संतति" जैसे उपन्यास का लीक से हटकर गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत करके उन्होंने संभवत: यह साबित कर दिया कि कथा-समीक्षा भी इतनी ही जिम्मेदारी का काम है, जितनी काव्य-समीक्षा । स्पष्ट ही उस जमाने में रचना की प्रयोगात्मकता के सामने पूर्व निर्धारित औज़ार लाचार नज़र आते थे । इस लिए यह जरूरी था कि आलोचक उन रचनाओं की समीक्षा के तर्क उसी में से खोजे । स्पष्ट ही इस पद्धति में कई बार आलोचना रचना पर नहीं बल्कि रचना आलोचना पर हावी दिखाई पड़ती है । सच तो यह है कि राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक लेखन से उस दौर में एक तो कथा-समीक्षा का अपना चरित्र बना और दूसरा यह भी साबित हुआ कि अगर रचना गंभीर न हो, तो नारों और घोषणाओं से किसी प्रवृत्ति को स्थापित करके जबरदस्त

दिखाया नहीं जा सकता।राजेन्द्र यादव के आलोचनात्मक लेखन की एक निजी पद्धति रही है जो श्रेष्ठ कथा-कृतियों के समर्थ विश्लेषण का रूप ग्रहण कर लेती है । कहना न होगा कि उनकी समीक्षा संस्कृत काव्य-शास्त्र के साथ-साथ पश्चिमी आलोचना - पद्धति के आतंक से प्राय मुक्त है । ऐसे भी, कथा - साहित्य का गहरा संबंध यथार्थ से होता है और यथार्थ अपने देश और परिवेश का होता है ।

प्रेमचंद ने लिखा है कि - "यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में चल रही हैं, अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता व हंसता हो तो इस दुनिया में उसकेलिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है ... साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित न हो, ... समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है । दूसरें शब्दों में, साहित्य और साहित्यकार का ध्येय, लक्ष्य और कर्तव्य समाज की भलाई, समाज के उन वर्गों और उन लोगों की हितरक्षा होनी चाहिए जो अन्याय, अत्याचार और दमन-उत्पीड़न के शिकार है।"

निश्चित ही प्रेमचंद की उक्त रचनात्मक कसौटी हर साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका के संबंध में शत-प्रतिशत प्रासंगिक है । वस्तुत: जनवादी पत्र-पत्रिकाएँ किसी लोभ-लालच से सृजित नहीं होती, बल्कि सामाजिक अन्याय, राजनैतिक शोषण-दमन और सत्ता की निरंकुशता से शोषित-पीडित वर्ग के प्रति उपजी सच्ची संवेदना तथा समतावादी विचारों से अनुप्राणित होती हैं । ऐसी पत्रिकाओं में सामाजिक परिवर्तन के उत्कट आकांक्षा निहित होती हैं, एक उन्नत समाज व्यवस्था के निर्माण की प्रतिबद्धता रहती है परन्तु सामाजिक परिवर्तन एवं नव-निर्माण का कार्य जनवादी क्रांति के बगैर पुरा नहीं हो सकता।

सुप्रसिद्ध पत्रकार एवं विचारक राजकिशोर ने सही लिखा है कि इसके लिए सामाजिक पत्र-पत्रिकाएं एक उत्प्रेरक शक्ति की भूमिका अवश्य निभा सकती है और समाज में जनवादी चेतना का संचार व अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ जन-जागृति पैदा कर सकती है ।

कहना न होगा कि एक जमाने में "हंस" और "जागरण" के माध्यम से उपर्युक्त कार्य प्रेमचंद ने अपनी शक्ति एवं सीमा में शुरू किया था और राजेन्द्र यादव के संपादकत्व में प्रकाशित "हंस" पत्रिका यह दायित्व निभाती आई है और निभाती रहेगी । "हंस" के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने जन-साधारण की सही शिक्षा व सही चेतना के संतुलित विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है । सामाजिक परिवर्तन को अपना उद्देश्य बनाने वाली इस पत्रिका के संपादक के रूप में वे इस तथ्य से अच्छी तरह वाकिफ है कि हमारा समाज अनेक वर्णों-जातियों-वर्गों में बंटा है और भूमंडलीकरण इस युग में मनुष्य का सामाजिक संबंध आर्थिक उत्पादन की प्रणाली व वितरण व्यवस्था पर पूरी तरह निर्भर है । इसलिए आज की सामाजिक परिस्थिति के तकाजे के तहत "हंस" पत्रिका दृढ़ता और सच्चाई के साथ वर्तमान आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्था का चित्रण और वर्णन करती आई और कर रही है । "हंस" के संपादक के रूप में राजेन्द्र यादव उन्हीं रचनाओं को तरजीह देते रहे है जो वर्णित घटनाओं के प्रति ठोस ऐतिहासिक दृष्टिकोण के तहत रचित होती है तथा आज की सामाजिक समस्याओं, जनविरोधी राजनीतिक क्रिया-कलापों की सच्चाई को गहनता और गंभीरता से प्रतिबिम्बित करते हुए इसके ठोस कारणों को रेखांकित करती है और जनवादी अधिकारों के लिए देश में जगह-जगह प्रस्फुटित हो रहे जन संघर्षों का दृढ़ता के साथ समर्थन करती है । कुल

मिलाकर हम कह सकते हैं कि बतौर संपादक राजेन्द्र यादव समाज के प्रगतिशील तत्वों एवं क्रान्तिकारी शक्तियों के हितों की रक्षा के लिए कर्तव्यनिष्ठ एवं निरंतर संघर्षरत है । उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि चूंकि हमारा समाज विभिन्न वर्णों-जातियों-वर्गों एवं तबकों में बँटा हुआ है इसलिए इनसे संबंधित राजनीति से अलग साहित्य सृजन एवं पत्र-पत्रिकाओं का कोई स्थान नहीं हो सकता और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है "आम जनता का शिष्य बनकर ही उसका शिक्षक बना जा सकता है ।"

यह सच है कि राजेन्द्र यादव का लेखन सामाजिक चेतना से सम्पन्न है । उन्होंने साहित्य एवं समाज की समस्याओं को करीब से जाना परखा और उसे दूर करने का प्रयास किया है । उनके द्वारा उठाये गये सभी मुद्दे वाद-विवाद और संवाद की दिशा में हमें अग्रसर करते हैं । वस्तुत: प्रस्तुत शोध इस दिशा में एक पहल कदमी है ।

आधार ग्रंथ - सूची

क्रम संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशन एवं वर्ष
1.	यादव राजेन्द्र	अठारह उपन्यास	अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. 1/36, अन्सारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली- 1981
2.	यादव राजेन्द्र	एक दुनिया:समानांतर	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. 2/38, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2 1993
3.	यादव राजेन्द्र	कहानी: स्वरूप और संवेदना	नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, नईदिल्ली-2 1988
4.	यादव राजेन्द्र	कहानी:अनुभव और अभिव्यक्ति	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2 1996
5.	यादव राजेन्द्र	उपन्यास : स्वरूप और संवेदना	वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2 1997
6.	यादव राजेन्द्र	काँटे की बात {चारखंड} अ} न लिखने का कारण आ} अनमद्ध बनाये रखने की साजिश इ} गुलामी का आनंद और स्वतन्त्रता के खतरे ई} आगे रास्ता बंद है।	अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2 1992
7.	यादव राजेन्द्र	प्रेमचंद की विरासत	अक्षर प्रकाशर, दिल्ली 1978
8.	यादव राजेन्द्र	औरों के बहाने	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली 1981

संदर्भ - ग्रंथ - सूची

1.	इन्द्रनाथ मदान	हिन्दी कहानी : एक नयी दृष्टि	संभावना प्रकाशन 1978
2.	उपाध्याय बलदेव	संस्कृत साहित्य का इतिहास	शारदा निकेतन, वाराणसी, 10 1997
3.	कमलेश्वर	नई कहानी की भूमिका	
4.	कात्यायनी	दुर्ग द्वार पर दस्तक	परिकल्पना प्रकाशन लखनऊ - 10, 1997
5.	कुमार कृष्ण	विचार का डर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 2. 1996
6.	कुमार विजय	कविता की संगत	आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा 1996
7.	कृष्णा डॉ. रैणा	हिन्दी कथासाहित्य विविध संदर्भ	विभुति प्रकाशन, दिल्ली दिल्ली - 1987
8.	खेतान, प्रभा	स्त्री उपेक्षिता	
9.	गुप्त, शांति स्वरूप	हिन्दी उपन्यास:महाकाव्य के स्वर	अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1978
10.	जैन, नेमिचन्द्र (सं.)	मुक्तिबोध रचनावली	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1980
11.	त्यागी, डॉ.सुमित्रा	हिन्दी उपन्यास आधुनिक विचारधाराएँ	साहित्य प्रकाशन, मालीवाडा, दिल्ली 1978

12.	त्रिपाठी शशिकला	राजेन्द्र यादव कथ्य और दृष्टि	नीलकंठ प्रकाशन, 1/1079-ई, महरौली नई दिल्ली - 30 1995
13.	दुबे, श्यामाचरण	समय और संस्कृति	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1996
14.	पचौरी, सुधीश	ब्रेक के बाद	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, - 02 1998
15.	पाण्डेय, मैनेजर	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ 1989
16.	प्रसाद, जयशंकर	कंकाल	भारती भंडार, इलाहाबाद 1976
17.	प्रसाद, कालिका	बृहद हिन्दी कोश	ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2030
18.	मधुरेश	समकालीन हिन्दी उपन्यास संवेदना और सरोकार	धरती प्रकाशन, बीकानेर राजस्थान, 1983
19.	मंगलेश डबराल	लेखक की रोटी	आधार प्रकाशन, हरियाणा - 1998
20.	मार्क्स-एंगेल्स	साहित्य तथा कला	प्रगति प्रकाशन, मास्को 1981
21.	मार्क्स-एंगेल्स	कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र	प्रगति प्रकाशन, मास्को 1988
22.	यादव, राजेन्द्र	उखड़े हुए लोग	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली 1951

23.	यादव, राजेन्द्र	सारा आकाश	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली 1951
24.	राजकिशोर (सं.)	विनाश को निमंत्रण	वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 1994
25.	वर्मा, जनेश्वर	हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना	ग्रन्थम रामबाग, कानपुर-12 1974
26.	विद्याधर शुक्ल (सं.)	हिन्दी आलोचना और आज की कहानी	चित्रलेखा प्रकाशन, 147, लोहबटिया बाग इलाहाबाद - 6 1978
27.	शर्मा, रामशरण	शूद्रों का प्राचीन इतिहास	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1992
28.	शर्मा, देवेन्द्रनाथ	पाश्चात्य काव्यशास्त्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली - 2, 1987.
29.	साहित्य खेड	मानविकी पारिभाषिक कोश	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
30.	सिंह, रामधारी दिनकर	संस्कृति के चार अध्याय	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1, 1998
31.	सिंह, राजेन्द्र प्रसाद	साहित्य की पारिस्थिकी	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 2, 1986
32.	सिंह, नामवर	इतिहास और आलोचना	नया साहित्य, इलाहाबाद 1962

33.	सिंह, सन्तबक्श	नयी कहानी : नये प्रश्न	साहित्यलोक, 86/412, देवनगर, कानपुर, 1981

पत्रिकाएँ

1. आजकल, मासिक : सं. प्रताप सिंह बिष्ट, पटियाला हाउस, नई दिल्ली
   वर्ष 1992 ।
2. हंस, मासिक : सं. राजेन्द्र यादव
   अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली
3. कथ्य रूप, त्रैमासिक : सं. अनील श्रीवास्तव,
   तुलाराम बाग, इलाहाबाद ।
4. फिलहाल आम आदमी त्रैमासिक : सं. रमणिका गुप्ता
   नवलेखन प्रकाशन, बिहार
5. संचेतना : सं. महीप सिंह
   शिवाजी पार्क, नई दिल्ली
6. दायित्व बोध : सं. विश्वासनाथ मिश्र,
   3/274, विश्वास खण्ड,
   गोमतीनगर, लखनऊ - 010
7. वसुधा : सं. कमला प्रसाद
   एफ - 20, सिविल लाइन्स, रीवा
   मध्य प्रदेश
8. पहल : सं. ज्ञानरंजन, आग्नेय
   101, रामनगर, आधारताल,
   जबलपुर - 482 004
9. पूर्वाग्रह :